प्रतिमा पूजन

लेखक :

पूज्य पन्यास प्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य

संपादक :

मुनिश्री रत्नसेन विजयजी

परोस्परोपग्रहो जीवानाम्

पुस्तक

के इस संस्करण का सौजन्य

जैन कुशल युवक मण्डल

छोटी दादाबाड़ी, आर ब्लॉक, साउथ एक्सटेंशन भाग-2,

नई दिल्ली-110049

प्राक्कथन

किसी भी राष्ट्र अथवा समाज के सर्वांगीण विकास में युवा वर्ग की सक्रिय एवं रचनात्मक सहभागिता का महत्वपूर्ण योगदान होता है। भारत की राजधानी महानगर दिल्ली में, एवं विशेष रूप से दक्षिण दिल्ली क्षेत्र में जैन युवाओं के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक आस्था के विकास के किसी सक्षम मंच की आवश्यकता काफी समय से तीव्रता से महसूस की जा रही थी। इस दिशा में संगीत सम्राट स्व. श्री घनश्यामदास जी जैन की प्रेरणा, उत्साहवर्धन एवं मार्गदर्शन के द्वारा सन् 1990 में दक्षिणी दिल्ली की ऐतिहासिक महत्वपूर्ण आस्था-स्थली 'छोटी दादाबाड़ी' के प्रांगण में कुछ जागरूक युवकों द्वारा **जैन कुशल युवक मण्डल** का गठन किया गया।

जाति, धर्म व सम्प्रदाय के भेद-भाव से दूर रहकर सांस्कृतिक व जनकल्याणकारी कार्यों के संचालन; सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, खेलकूद एवं अनुकम्पा सम्बंधी कार्यों के संचालन व तद्विषयक प्रवृत्तियों के विकास के महनीय उद्देश्यों को लेकर मण्डल ने अपनी यात्रा का शुभारंभ किया। शनैः-शनैः इसके सदस्यों की संख्या बढ़ती हुई वर्तमान में 170 के करीब हो गई है। मण्डल ने संख्या-बाहुल्य के स्थान पर कार्य-बाहुल्य को अपना लक्ष्य निर्धारित करते हुए संघ सेवा के सभी अवसरों पर अपने स्वयंसेवक सदस्यों की कर्मठ भागीदारी से समाज का स्नेह प्राप्त किया। विभिन्न सामाजिक व सांस्कृतिक गतिविधियों के

अर्न्तगत विभिन्न विषयों पर गोष्ठियों का आयोजन, विभिन्न धर्मस्थलों की यात्रायें, विविधि धार्मिक पूजाओं के आयोजन व विशिष्ट अवसरों पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से युवाशक्ति को सृजनात्मक पहल एवं रचनात्मक दिशा प्रदान की है।

300 वर्षो से भी अधिक प्राचीन छोटी दादाबाड़ी के कण-कण में व्याप्त आध्यात्मिक ऊर्जा तथा कलिकाल कल्पतरू दादा श्री जिन कुशल सूरि गुरूदेव के पावन आशीर्वाद का ही परिणाम है कि अपने स्थापनाकाल से ही मंडल आपसी सौहार्द्र, सामन्जस्य एवं सहिष्णुता के द्वारा समाजोपयोगी व लोक मंगलकारी विभिन्न प्रवृत्तियों को संपादित करता रहा है।

मंडल द्वारा **'प्रतिमा पूजन'** नामक इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के संस्करण-मुद्रण का सौजन्य प्रदान करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। इस प्रकल्प हेतु जिन महानुभावों ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। यह ग्रन्थ सभी धर्मप्रेमी बन्धुओं के लिए बहुत उपयोगी होगा, इस दृढ़ विश्वास के साथ भविष्य में भी ऐसे ही नितान्त उपयोगी ग्रन्थों के प्रकाशन, पुनर्प्रकाशन आदि प्रवृत्तियों को यथा संभव जारी रखने की शुभेच्छा है।

संघ तथा समाज सेवा के लिए संकल्पित होते हुए आप सभी के सक्रिय सहयोग तथा अनुभव सिद्ध मार्गदर्शन की अपेक्षा रखते हुए,

सदस्यगण

जैन कुशल युवक मण्डल

छोटी दादाबाड़ी जैन मंदिर,

मस्जिद मोठ, साउथ एक्सटेंशन भाग-2,

नई दिल्ली-110049

इस संस्करण के अर्थ सहयोग प्रदाता

नाम	राशि
टेलेक्सेल इन्फोसिस्टम	5,000-00
वरूण जेम्स	5,000-00
आल्पस प्रिंटर्स	3,500-00
एम.आर. इन्टरप्राइज़ेज	3,500-00
शुभम इन्टरप्राइज़ेज	3,500-00
आल पैक इन्डस्ट्रीज	3,500-00
मोहन लाल चन्दर मोहन	3,500-00
ओमेगा क्रियेशन्स	2,500-00
वासु इन्टरप्राइज़ेज	2,100-00
राजधानी मैटल	2,000-00
नेशनल ग्रेनाइट	2,000-00
निर्मल विजय	2,000-00
यूनाईटेड पैकर्स	2,000-00
आनन्द सेल्स	2,000-00
एनके इन्डिया रबर कम्पनी प्रा.लि.	2,000-00
प्रताप नाहर	2,000-00
गौतम जैन, कोलकाता	2,000-00
नियोगी ऑफसेट प्रा.लि.	1,500-00
जे.सी.एल. इंटरनेशनल लि.	1,500-00
कमला राव एसोसियेट्स	500-00
सूरी मार्केटिंग कं.	500-00

प्रतिमा-पूजन

लेखक

जिन शासन के अजोड़ प्रभावक महाराष्ट्र देशोद्धारक
स्व. पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रामचन्द्र सूरीश्वरजी म. सा. के शिष्यरत्न
अध्यात्मयोगी, निःस्पृहशिरोमणि
पूज्यपाद पंन्यासप्रवर

श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य

सम्पादक

मुनि श्री रत्नसेन विजयजी महाराज

प्रकाशक

दिव्यसंदेश प्रकाशन

4, मेरी विला बिल्डिंग, पहला माला,
मांजरेकर वाडी, मथुरादास वसनजी रोड,
अंधेरी (पूर्व), बम्बई - 400 069

आवरण चित्र परिचय :

परमात्मा श्री नेमिनाथ की भव्य प्राचीन प्रतिमा

एवं

तृतीय दादागुरूदेव श्रीमज्जिनकुशल सूरीश्वर जी म.सा.

की प्राचीन चरण-पादुका

वि.सं. 1671 (सन् 1671) में प्रतिष्ठित

छोटी दादाबाड़ी जैन मंदिर,

मस्जिद मोठ, साउथ एक्सटेंशन भाग-2, नई दिल्ली-110049

संस्करण : अक्टूबर, 2004

मूल्य : स्वाध्याय

प्रतियां : 2000

मुद्रक :
संजय प्रिंटर्स,
1132, छत्ता मदन गोपाल
चाँदनी चौक, दिल्ली
दूरभाष : 011-23281770

प्राप्ति स्थान :
कार्यालय
छोटी दादाबाड़ी जैन मंदिर
मस्जिद मोठ, साउथ एक्सटेंशन भाग-2,
नई दिल्ली-110049
दूरभाष : 26254879, 26255728

दिल्ली के जैन श्वेताम्बर मंदिरों की सूची

1. श्री जैन मंदिर दादाबाड़ी
   मेहरौली, दिल्ली-110060
   दूरभाष: 26644941, 26642640

2. इन्द्रप्रस्थ तीर्थ श्री सुमतिनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर
   श्री जैन श्वेताम्बर मंदिर व पौशाल चैरिटेबल ट्रस्ट
   1997, नौघरा, किनारी बाजार, चाँदनी चौक,
   दिल्ली-110006
   दूरभाष: 23270489

3. श्री जिन कुशल सूरि जैन मंदिर, छोटी दादाबाड़ी
   श्री जिन कुशल सूरि जैन खरतरगच्छ दादाबाड़ी ट्रस्ट
   मस्जिद मोठ, साऊथ एक्सटेन्शन पार्ट-2,
   नई दिल्ली-110049
   दूरभाष : 26254879, 26255728

4. श्री संभवनाथ श्वेताम्बर जैन मंदिर
   श्री जैन श्वेताम्बर मन्दिर व पौशाल चैरिटेबल ट्रस्ट
   2875, चहलपुरी, धर्मपुरा, किनारी बाजार, चाँदनी चौक
   दिल्ली-110006
   दूरभाष: 23270489

5. भगवान श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर
   चीराखाना मालीवाड़ा, चाँदनी चौक
   दिल्ली-110006
   दूरभाष: 23258564

6. श्री शान्तिनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर
   श्री आत्मानन्द जैन सभा (रजि०)
   2/82, रूपनगर, दिल्ली-110007
   दूरभाष : 23840135

7. श्री वासुपूज्य जैन श्वेताम्बर मंदिर
20th किलोमीटर जी. टी. करनाल रोड,
पो. ओ. अलीपुर, दिल्ली-110036
दूरभाष : 27206578, 27202225

8. श्री कुन्थुनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर
गुजरात विहार, विकास मार्ग,
दिल्ली-110092
दूरभाष : 22544395

9. भगवान वासुपूज्य जैन श्वेताम्बर मंदिर
प्लॉट नं.-14, सेक्टर-13,
वल्लभ विहार
रोहिणी, दिल्ली-110085
दूरभाष : 27569445 (श्री निर्मल जी)

10. श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर
श्री आत्मानन्द जैन सभा, शाहदरा
बी-9, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110 032
दूरभाष : 22825088

11. श्री कल्याण पार्श्वनाथ श्वेताम्बर मंदिर
गुजरात आपार्टमेन्ट, पीतमपुरा,
दिल्ली-110034
दूरभाष: 27026059 (श्री कीर्तिभाई)

12. श्री सुमतिनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर
एफ-31, मानसरोवर गार्डन,
नई दिल्ली-110 015
दूरभाष: 25153033

13. परमात्मा श्री संभवनाथ मंदिर
श्री संभवनाथ राजेन्द्र जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ
बी-66, विवेक विहार, फेज़-2
दिल्ली-110092
दूरभाष : 22167730

14. महाबली श्रीपार्श्वनाथ एवं उपसर्गहारिणी माँ पद्मावती मंदिर
श्री पार्श्व पद्मावती जिनालय महाबलीपुरम तीर्थ न्यास
महाबलीपुरम्, गाँव-भाटी, मेहरौली क्षेत्र
नई दिल्ली-110074
दूरभाष: 26652822

15. परमात्मा श्री विमल नाथ मंदिर
श्री विमलनाथ जैन श्वेताम्बर संघ
काकाजी लेन, अशोक विहार, फेज़-3
नई दिल्ली-110052
दूरभाष: 27419173

16. श्री पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर
नसरतपुरा, मनोहर टॉकीज़ के पीछे,
गाज़ियाबाद (उ० प्र०)
दूरभाष: 95120-2853636

17. श्री अमीझरा शान्तिनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ
अरबन एस्टेट सेक्टर-4, गुड़गांव, (हरियाणा)
दूरभाष: 95124-2253064

18. परमात्मा श्री महावीर स्वामी मंदिर (निर्माणाधीन)
श्री महावीर स्वामी जैन श्वेताम्बर मंदिर ट्रस्ट
प्लाट नं. 1045, सेक्टर-16,
ट्यूबवेल नं. 5 के पास, फरीदाबाद-121002 (हरियाणा)
दूरभाष : 0129-2297175, 5007075

लेखक की कलम से. . .

समर्थ शास्त्रकार-महर्षि आचार्य भगवन्त श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी और उनसे भी पूर्व के महान् पूर्वाचार्य महर्षि फरमाते हैं -

''चैत्यवन्दनतः सम्यक्, शुभो भावः प्रजायते ।

तस्मात् कर्मक्षयः सर्वं, ततः कल्याणमश्नुते ।।

चैत्य अर्थात् जिन-मन्दिर अथवा श्री जिनबिम्ब को सम्यग् रीति से वन्दन करने से प्रकृष्ट शुभ भाव पैदा होते हैं। शुभ भाव से कर्म का क्षय होता है और कर्मक्षय से सर्व कल्याण की प्राप्ति होती है। मन, वचन, काया की प्रशस्त प्रवृत्ति का नाम 'वन्दन' है। मन से ध्यान करना, वचन से स्तुति करना तथा काया से पूजा आदि करना, उन्हें शास्त्रीय भाषा में वन्दनक्रिया कहते हैं। श्री अरिहन्त के चैत्यों को मन, वचन और काया द्वारा वन्दन करना, सुगन्धित पुष्पमाला आदि द्वारा उनकी पूजा करना, श्रेष्ठ वस्त्रालंकारों द्वारा उनका सत्कार करना और गुणस्तुत्यादि द्वारा उनका सन्मान करना, यह जन्मान्तर में भी श्री जिनधर्म की प्राप्ति कराने वाले होते हैं; और अन्त में 'जन्म, जरा, मृत्यु आदि के दुःखों का स्पर्श भी जहाँ नहीं है, ऐसे 'निरुपसर्ग' मोक्षपद को देने वाले होते हैं, ऐसा सूत्रकार भगवन्त मूल सूत्रों में फ़रमाते हैं।

'चैत्यवन्दन' अर्थात् 'अरिहन्तों की प्रतिमाओं का पूजन' कैसे होता है, इस सम्बन्ध में शब्दशास्त्र-विशारद फरमाते हैं कि -

''चित्तम् - अन्तःकरणं तस्य भावः कर्म वा, प्रतिमालक्षणम् अर्हच्चैत्यम् । अर्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधि-चित्तोत्पादकत्वात् चैत्यानि भण्यन्ते।''

चित्त यानी अन्तःकरण। अन्तःकरण का भाव अथवा अन्तःकरण की क्रिया, उसका नाम चैत्य है। अरिहन्तों की प्रतिमाएँ अन्तःकरण की प्रशस्त समाधि को पैदा करने वाली होने से 'चैत्य' कहलाती है।

चैत्य शब्द का दूसरा अर्थ -

''चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बम् ।''

श्री जिनगृह अथवा श्री जिनबिम्ब ऐसा भी अर्थ कोशकारों ने किया है। उस चैत्य को वन्दन आदि करने से शुभ भाव की वृद्धि होती है, शुभ भाव की वृद्धि से उत्तरोत्तर सम्यग्दर्शनादि विशुद्ध धर्मों की प्राप्ति होती है और इससे परम्परा से सर्व कर्म की मुक्ति आदि महत् कार्य भी सिद्ध होते हैं।

अर्हत् चैत्य यानी श्री अरिहन्तों की प्रतिमाओं को वन्दन-पूजन आदि करने से सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणों की प्राप्ति और कर्मक्षय की सिद्धि होती है, ऐसा श्रीमद् हरिभद्रसूरि म. आदि

सूरिपुंगवों ने ही फरमाया है, ऐसा नहीं, परन्तु पूर्व के पूर्वधर - भगवान श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमणजी, दश-पूर्वधर - भगवान श्री उमास्वातिजी और चौदह पूर्वधर श्रुतकेवली भगवान श्री भद्रबाहु स्वामीजी आदि अनेक सूरिपुरन्दरों ने भी महाभाष्य, पूजा प्रकरण, आवश्यक निर्युक्ति आदि महाशास्त्रों में भी ऐसा फरमाया है। इतना ही नहीं, परन्तु मूल आवश्यक सूत्रकार गणधर भगवान श्री सुधर्मास्वामीजी महाराज ने, कायोत्सर्ग, आवश्यक और उसके अलावों में भी स्पष्ट शब्दों में बताया है।

प्रतिमा-पूजन की सिद्धि और श्रेय:साधकता के लिए, इससे अधिक प्राचीन और प्रबल प्रमाण दूसरे भाग्य से ही हो सकते है। प्रतिमा-पूजन, यह किसी अज्ञानी, स्वार्थी साधु या धूर्तपुरुष की कही हुई निरर्थक क्रिया नहीं है, किन्तु सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्त, नि:स्वार्थ और शुद्ध पुरुषों ने स्व-पर-श्रेय: के लिए बताई गई अजोड़ और अनुपम सफल धर्मक्रिया है। इसके अनेक प्रमाण इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर देने का प्रयास किया गया है। इन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ने वाले किसी भी समदृष्टि वाचक को स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि प्रतिमा-पूजन, यह अज्ञान या अविवेक से उत्पन्न नहीं हुई है, परन्तु इसका खण्डन ही घोर अज्ञान और अविवेक में से उत्पन्न हुआ है।

प्रतिमा-पूजन जैसी सर्वोच्च आत्मकल्याणकर प्रवृत्ति के लिए व्यंग्य कसने वाले वर्ग के दो भाग हो जाते हैं। एक प्राचीन विचारश्रेणी का और दूसरा अर्वाचीन विचारश्रेणी का। प्राचीन विचारश्रेणी का वर्ग प्रतिमापूजन में हिंसा और उसे अधर्म मानता है और अर्वाचीन, विचारश्रेणी का वर्ग प्रतिमा-पूजन में बुद्धि की जड़ता और उसे अन्ध परम्परा मानता है। ये दोनों विचारश्रेणियाँ अज्ञानमूलक हैं। प्रतिमा-पूजन से हिंसा नहीं, परन्तु अहिंसा बढ़ती है तथा प्रतिमा-पूजन से बुद्धि की जड़ता नहीं किन्तु निर्मलता बढ़ती है तथा अंध अनुकरण के बजाय सर्वोत्कृष्ट ज्ञानियों के बताये ज्ञानमार्ग का अनुसरण होता है।

इस सम्पूर्ण पुस्तक में प्राचीन और अर्वाचीन दोनों श्रेणी के विचारों का प्रतिमा-पूजन सम्बन्धी विरोध वाला मन्तव्य कितना भूल भरा है, उसे समझाने का शक्य प्रयास किया गया है और प्रतिमा-पूजन से होने वाले उत्तरोत्तर लाभों का युक्ति, अनुभव और शास्त्र के आधार से हो सके उतना सत्य समर्थन किया गया है। प्रतिमा-पूजन के पक्ष सम्बन्धी आज तक बहुत सा साहित्य, शास्त्र के अनुसार प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में उसी बात को भिन्न प्रकार से समझाया गया है।

श्री जिन-प्रतिमा पूजन, यह एक ऐसा विषय है कि उस पर अनेक महापुरुषों ने अनेक प्रकार से विचार किया है और उसके लाभ ढूंढ़ने के लिए अपना जीवन लगाया है। उसके हार्द में वे जैसे-जैसे गहरे उतरते गये हैं, वैसे-वैसे उन्हें नया-नया अनुभव-दर्शन प्राप्त होता गया। इससे होने वाले सम्पूर्ण लाभों का अन्त ढूंढ़ना, बड़े-बड़े योगियों को भी अगम्य हुआ

है। ऐसे एक गहन, अत्यंत उपयोगी और सब का ही एकान्त कल्याण करने वाले विषय पर जितना अधिक विचार किया जावे और उसके लाभ ढूंढ़ने के लिए जितनी अधिक सूक्ष्म गति दौड़ाई जावे, उतनी कम ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जो कुछ विचारणा की गई है, वह आज तक प्रकाशित हुए शास्त्रानुसारी साहित्य को ध्यान में रखकर ही की गई है। प्रतिमा-पूजन यह साधुओं और गृहस्थी दोनों के लिए सामान्य और नित्य-धर्म है। इस नित्य-धर्म में जितनी श्रद्धा और समझ की शुद्धि और वृद्धि होती रहे, उतनी शुद्धि करने की आज के युग में अत्यन्त आवश्यकता है।

वर्तमान समय में धर्म के विषय में बहुत कम विचार किया जाता है। बहुत कम ऐसे प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, जो धर्म के विषय में गहरे उतरने का प्रयास करते हों। ऐसी स्थिति में धर्म के नाम पर गलत बातें जीवन में आ जाती हैं और सही बातें चली जाती हैं, यह सहज-स्वाभाविक है। श्री जिनप्रतिमा-पूजन एक सर्वोत्तम धर्मानुष्ठान है। इस कोटि का धर्मानुष्ठान और कोई अन्य हो, यह त्रिभुवन में भी असम्भवित हैं। उसके सम्मुख अज्ञानता, पूर्वाग्रह, कुशिक्षण, जड़वाद, उपेक्षा और धर्म-अवगणना आदि अनेक अनिष्टकारी बातें मुँह खोले खड़ी हैं। इन सब से स्वयं बचने और दूसरों को बचाने के लिए तैयार होने की जरूरत है। ऐसे समय में श्री जिनप्रतिमा-पूजन की श्रेष्ठता सिद्ध करने वाला यही नहीं किन्तु अनेक प्रकार का साहित्य प्रकाशित करने की आवश्यकता है। इस कार्य का एक अंश भी इस पुस्तक द्वारा पूरा हो, तब भी यह प्रयास सफल हुआ समझा जायेगा।

इस पुस्तक में दी गई प्रश्नोत्तरी आज से बहुत वर्ष पहले प्रकाशित 'मूर्ति-मण्डन-प्रश्नोत्तर' नामक ग्रन्थ के आधार पर तैयार की गई है। इसमें जो कमी रह गई हो, तो उसके लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' देने के साथ, पाठकों को वे कमियाँ गीतार्थ गुरूओं के पास से सुधार लेने की खास सूचना है।

करमचन्द जैन हॉल,
अन्धेरी : सं. 1997-पौष सुद 8
ता. 6-1-1941

मुनि भद्रंकरविजय

सम्पादक की कलम से. . .

अनन्त करुणा के महासागर श्री अरिहन्त-परमात्मा अपने चारों निक्षेपों के द्वारा जगत् के जीवों पर उपकार की वर्षा कर रहे हैं।

सांकेतिक नाम का उच्चारण करने से सांकेतिक वस्तु का बोध होता है। वह वस्तु का **नाम निक्षेप** *है।*

वस्तु की आकृति से भी वस्तु का यथार्थ बोध होता है। वह वस्तु का **स्थापना निक्षेप** *है।*

वस्तु की भूत-भावी अवस्थाएँ भी वस्तु का बोध कराती हैं। वह वस्तु का **द्रव्य निक्षेप** *है।*

इसी प्रकार वस्तु स्वयं अपने स्वरुप का बोध कराती है। वह वस्तु का भावनिक्षेप है। जिस वस्तु का **भाव निक्षेप** *पूजनीय हो उसके नाम आदि निक्षेप भी पूजनीय गिने जाते हैं और जिस वस्तु का भाव निक्षेप अपूजनीय होता है, उसके नामादि निक्षेप भी अपूजनीय गिने जाते हैं।*

अरिहन्त परमात्मा का भाव निक्षेप वन्दनीय/पूजनीय होने से उनके नाम व स्थापना निक्षेप भी उतने ही वन्दनीय और पूजनीय है।

परन्तु अज्ञानता और मोह की प्रबलता के कारण विक्रम की लगभग १७ वीं शताब्दी में लोंकाशा आदि ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध बांग/पुकारी युक्ति और आगम से मूर्तिपूजा सिद्ध होने पर भी कदाग्रह से ग्रस्त व्यक्तियों ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध जोर-शोर से प्रचार प्रारम्भ कर दिया था मूर्ति तो पत्थर की है, उसे पूजने से क्या फायदा? मूर्तिपूजा में तो एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा रही हुई है - उसकी पूजा से क्या फायदा? इस प्रकार के कुतर्कों से अनेक लोग मूर्ति का विरोध करने लगे थे। इतना ही नहीं अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर आगमों में जहाँ-जहाँ मूर्तिपूजा का उल्लेख था - या तो उन्होंने उस आगम को स्वीकार करने से ही इन्कार कर दिया अथवा 'चैत्य' शब्द का अर्थ ही बदल दिया।

मूर्तिभंजकों के कुमत के प्रचार-प्रसार से अनेक व्यक्तियों की मूर्तिविषयक श्रद्धा भी डगमगाने लग गई थी। कसौटी के इस प्रसंग में **पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने 'प्रतिमाशतक'** *जैसे अनमोल ग्रन्थ की रचना कर प्रतिमालोपकों का तर्क, युक्ति व आगम से खण्डन कर सन्मार्ग की स्थापना की थी।*

'प्रतिमाशतक' *में पूज्य उपाध्यायजी महाराज लिखते हैं -*

नामादित्रयमेव भावभगवत्तादूरूप्यधीकारणं,
शास्त्रात् स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः।
तेनार्हत् प्रतिमामनादृतवतां भावं पुरस्कुर्वता -
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः १॥

अर्थ : "शास्त्र के प्रमाण से एवं स्वानुभव से शुद्ध हृदय वाले इस बात की प्रतीति करते हैं कि भाव-अरिहन्त में तद्रूपपने की बुद्धि का कारण नामादि तीन निक्षेप ही हैं। अंधे की दर्पण में मुख देखने की चेष्टा कितनी हास्यास्पद है। वैसे ही अरिहन्त की प्रतिमा का आदर किए बिना भाव अरिहन्त को आगे करने वालों की बुद्धि भी उतनी ही हास्यास्पद है।"

जिनबिम्ब का महत्त्व बतलाते हुए पूज्य उपाध्यायजी महाराज आगे फरमाते हैं कि - "जिनेश्वर देवों की प्रतिमा देवेन्द्रों की श्रेणी द्वारा नमस्कृत है, प्रचण्ड तेज का निकेतन है, भव्य जीवों के नेत्रों के लिए अमृत समान है, सिद्धान्त-रहस्यों के विचार में चतुर पुरुषों के लिए प्रमाणित है और प्रतिक्षण वर्धमान कान्ति का आलय है। इस प्रकार सदैव जय पाने वाली जिनमूर्ति को उन्माद और प्रमाद की मदिरा से उन्मत्त बने पुरुष ही आदर की दृष्टि से नहीं देखते हैं।"

जिनबिम्ब में परमात्म भाव का आरोपण है, अतः अनन्तज्ञानी तीर्थंकर परमात्मा की शान्त, निर्विकार और ध्यानारूढ़ भव्य मूर्ति के दर्शन से श्री वीतराग परमात्मा के लोकोत्तर गुणों का स्मरण अवश्य होता है।

आगम-प्रमाण से भी जिनबिम्ब की पूजा सिद्ध हो जाती है। 'कल्पसूत्र' ग्रन्थ में सिद्धार्थ महाराजा द्वारा जिनेश्वरदेव की द्रव्यपूजा करने का कथन है।

* **उपासकदशांग** में आनन्द श्रावक द्वारा जिनप्रतिमा के वन्दन का पाठ है।
* **ज्ञातासूत्र** में द्रौपदी द्वारा जिनबिम्ब पूजा करने का अधिकार है।
* **भगवती सूत्र** में चमरेन्द्र के अधिकार में तीन शरण बताते हुए दूसरा शरण श्री अरिहन्त के चैत्य का बतलाया है।
* **भगवती सूत्र** में जंघाचारण और विद्याचारण मुनियों द्वारा जिनप्रतिमा के वन्दन का अधिकार है।
* **आवश्यक सूत्र** में भरत चक्रवर्ती द्वारा जिनप्रासाद के निर्माण की बात आती है।

रागी के दर्शन से यदि मन में राग-भाव पुष्ट होता है तो वीतराग-परमात्मा के दर्शन से मन में विराग भाव पुष्ट क्यों नहीं होगा?

लोंकाशा-मत में हुए स्थानकवासी और तेरापंथी, जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर का निषेध व विरोध करते हैं. . . परन्तु आश्चर्य तो यह है कि उनके जीवन में ही कितना विरोधाभास देखने को मिलता है।

जिनमूर्ति को जड़ व प्रभावशून्य कहने वाले ये ही स्थानकवासी/तेरापंथी साधु-साध्वी अपने फोटो खिंचवाते हैं. . . अनेक पुस्तकों में स्थानकवासी-तेरापंथी साधुओं के अनेक रंगीन व आकर्षक फोटो देखने को मिल सकते हैं। स्थानक वासी व तेरापंथी अपने घरों में अपने धर्मगुरूओं के रंगीन-बड़े-बड़े फोटो सुन्दर तस्वीरों में मढ़वाकर दीवारों पर टाँगते है और हमेशा उनके दर्शन करते हैं,. . . उनको आदर व सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

'प्रभु-प्रतिमा के दर्शन-पूजन में पाप लगता है' - की बांग पुकारने वाले ये स्थानकवासी साधु अपनी स्वयं की उपस्थिति में अपनी जन्मजयन्ति का लम्बा-चौड़ा महोत्सव करवाते हैं। दैनिक अखबारों में अपने फोटो सहित बड़े-बड़े विज्ञापन दिलाते हैं।

मृत्यु के बाद भी इन्हीं साधुओं की प्रेरणा से इनके धर्मगुरूओं के स्मारक बनाये जाते हैं।

जो धर्म या समाज अपने धर्म-गुरूओं की स्थापना को पूज्य मानता है, उसी धर्म/समाज या सम्प्रदाय के लोग जब वीतराग प्रतिमा को मानने से इन्कार करते हैं - तब हँसी आ जाती है! ओहो! उनका यह कैसा बेहूदा व्यवहार है।

अपने धर्मगुरूओं की मूर्ति, पादुका, समाधि व फोटो में होने वाली हिंसा की उपेक्षा कर जिनमन्दिर के निर्माण व जिनप्रतिमा के पूजन में होने वाली स्वरूपहिंसा को आगे कर जिनमन्दिर व जिनप्रतिमा को अस्वीकार करने की उनकी बात कितनी युक्तिहीन है।

'अनुयोग द्वार' आदि आगमग्रन्थों में कहा गया है कि जिस द्रव्य/पदार्थ का भाव-निक्षेप पूजनीय और वन्दनीय है उस द्रव्य/पदार्थ के शेष नामादि निक्षेप भी पूजनीय और वंदनीय हैं तथा जिस द्रव्य/पदार्थ का भाव निक्षेप निन्दनीय और अशुभ है, उसके अवशिष्ट नामादि निक्षेप भी निन्दनीय और अशुभ हैं।

अरिहन्त परमात्मा का भाव-निक्षेप वन्दनीय और पूजनीय है, अत: उनके नाम आदि निक्षेप भी वन्दनीय और पूजनीय हैं तथा अंगारमर्दक द्रव्याचार्य का भाव निक्षेप निन्दनीय, अशुभ होने से उनके नाम आदि निक्षेप भी अशुभ और निन्दनीय हैं।

अरिहन्त परमात्मा का भाव निक्षेप पूज्य होने से उनके नामादि निक्षेपों का भी उतना ही महत्त्व है, जितना भाव-निक्षेप का। अरिहन्त के भाव निक्षेप को पूज्य मानें और उनके नाम-स्थापना आदि को पूज्य न मानें. . . तो वह अरिहन्त परमात्मा की आशातना रूप ही है।

अरिहन्त परमात्मा के किसी एक वचन में सन्देह करें और शेष बातों में/वचनों में पूर्ण श्रद्धा करे तो भी उसे मिथ्यात्वी कहा गया है।

एक भी जिनवचन में शंका/सन्देह करने से आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात होता है।

अरिहन्त परमात्मा की भक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय उनकी स्थापना का स्वीकार कर उसकी भक्ति करना है। अरिहन्त की मूर्ति अरिहन्त स्वरूप ही है। अरिहन्त की प्रतिमा के दर्शन से अपनी आत्मा का उपयोग भी अरिहन्ताकार बनता है और अरिहन्ताकार उपयोग में लीन बनी आत्मा आर्हंत्य स्वरूप का साक्षात् अनुभव करती है।

योग के पाँच प्रकार बताए गए हैं - (1) आसन, (2) वर्ण, (3) अर्थ, (4) आलम्बन और (5) निरालम्बन।

जिस प्रकार पाँचवीं मंजिल पर जाने के लिए पूर्व की चार मंजिलों को पार करना ही पड़ता है, उसी प्रकार निरालम्बन योग को पाने के लिए प्रथम आसनादि सालम्बन योग की साधना अत्यन्त ही अनिवार्य है।

रूपी के आलम्बन बिना अरूपी का ध्यान शक्य नहीं है।

सर्वश्रेष्ठ रूपी आलम्बन अरिहन्त परमात्मा का है और उस आलम्वन के लिए अरिहन्त की प्रतिमा ही श्रेष्ठ उपाय है।

सरल व सुलभ अरिहन्त परमात्मा की दिव्य-प्रतिमा के आलम्बन की उपेक्षा कर जो आत्माएँ अरूपी सिद्धों के ध्यान की बातें करती हैं - उनकी ये बातें हवाई किले बनाने के समान सर्वथा निरर्थक ही हैं। आर्हत्य स्वरूप का साक्षात् अनुभव करती है।

'सुज्ञेषु किं बहुना?' युक्ति के अनुसार ज्यादा लिखने का कोई अर्थ नहीं है। पूज्यपाद गुरुदेवश्री ने प्रस्तुत पुस्तक में अरिहन्त के स्वरूप, अरिहन्त-भक्ति, अरिहन्ताकार उपयोग आदि-आदि विषयों पर विस्तृत चर्चाएँ की हैं।

अध्यात्मयोगी नि:स्पृहशिरोमणि नमस्कार महामंत्र के बेजोड़ आराधक एवं प्रचारक स्व. पूज्य गुरुदेव पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री** ने प्रस्तुत **'प्रतिमा पूजन'** पुस्तक का गुजराती भाषा में वि.सं. 1997 में आलेखन किया था। गुर्जर भाषा में यह कृति अत्यन्त ही लोकप्रिय बनी। अनेक आत्माओं के मन में रहे प्रतिमा-विषयक सन्देह दूर हुए. . . अनेक को सन्मार्ग प्राप्त हुआ। गुजराती भाषा में इस पुस्तक की तीन आवृत्तियाँ प्रगट हो चुकी हैं, फिर भी इसकी मांग निरन्तर जारी है।

वि.सं. 2035 में इस पुस्तक का जसराजजी सिंघी द्वारा हिन्दी में अनुवाद किया गया था और जिनदत्त सूरि जैन दादावाड़ी, अजमेर की ओर से इस कृति का हिन्दी में प्रकाशन हुआ था। आज उसकी भी नकलें उपलब्ध नहीं हैं।

परोपकारपरायण **पूज्य पंन्यासप्रवर श्री वज्रसेन विजयजी गणिवर्यश्री** *की सत्प्रेरणा एवं परम पूज्य तपस्वी, सेवाभावी* **मुनिप्रवर श्री जिनसेन विजयजी म.सा.** *की सहयोगवृत्ति से इस अलभ्य पुस्तक का पुनः संस्करण-परिमार्जन, नवीन मेटर का हिन्दी अनुवाद और सम्पादन किया गया है। हिन्दी प्रथम आवृत्ति में भाषा सम्बन्धी भी जो भूलें थीं; उन्हें भी परिमार्जित किया गया है। कहीं-कहीं लेखों के क्रम उनकी वाक्यरचना एवं भाषा आदि में भी आवश्यक परिवर्तन किया है। भाषाशैली को सरल व स्पष्ट करने का भी प्रयास किया गया है, जिससे जटिल पदार्थों का सुगम बोध हो सके।*

प्रस्तुत सम्पादन में स्वर्गस्थ पूज्यपाद गुरुदेव श्री के अभिप्राय को यथावत् बनाए रखने का पूर्ण ध्यान रखा गया है - फिर भी छद्मस्थतावश कहीं स्खलना रह गई हो तो उसके लिए क्षमायाचना करता हूँ।

प्रस्तुत कृति का यदि मध्यस्थवृत्ति से पठन-पाठन और अध्ययन किया जाएगा. . . तो अवश्य ही सन्मार्ग की प्राप्ति होगी।

सभी आत्माएँ वीतराग-प्ररूपित सन्मार्ग की उपासिका बनकर अपना आत्मश्रेयः सिद्ध करें, इसी शुभेच्छा के साथ -

सेठ मोतीशा जैन उपाश्रय,
भायखला, बम्बई - 400 027.
पोष दशमी, 2053
दि. 4-1-1997

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य शिष्याणु
मुनि रत्नसेन विजय

1

परमार्थ से नास्तिक कौन?

इस दुनिया में ज्ञानी जितना उपकार कर सकते हैं, उससे भी अधिक अपकार अज्ञानी कर सकते हैं। सुयुक्तियों की अपेक्षा कुयुक्तियाँ अधिक होती है। सम्यग्दृष्टि आत्माओं की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आत्माएँ अनन्तगुनी हैं, यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही सत्य यह बात भी है कि ज्ञानियों का ज्ञानसूर्य और उसकी जाज्वल्यमान किरणें जहाँ फैलती हैं, वहाँ कैसा भी घोर अन्धकार क्यों न हों, वह एक क्षण भी नहीं रह सकता।

श्री वीतराग की मूर्ति की पूजा करें या नहीं? इस विषय को भी बहुतों ने विवादास्पद बना रखा है। सिद्धान्तवेदी समग्र महापुरुषों ने एक मत और एक ही स्वर में फरमाया है **''श्री वीतराग देव की आराधना मुख्यतया उनकी मूर्ति के द्वारा ही सम्भव है। इसके सिवाय अन्य कोटि उपायों से भी वह सुशक्य नहीं है।''** दूसरी ओर अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि आत्माओं ने इसके विपक्ष में अनेक कुयुक्तियाँ उपस्थित कर ज्ञानी पुरुषों द्वारा प्रदर्शित पवित्र मार्ग को अवरुद्ध करने का प्रयास करने में जरा भी कमी नहीं रखी है।

जगत् में ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का साम्राज्य विशेषत: व्याप्त है, इसलिए कुतर्कों का प्रभाव अज्ञानी और सरल वर्ग पर हुए बिना नहीं रह सकता। एक ओर तो स्वभावत: अज्ञान का साम्राज्य और दूसरी ओर कुतर्कों का प्राबल्य - दोनों का मिलन होने से श्री वीतरागदेव की पवित्र मूर्ति और उसकी परमकल्याणकारी उपासना से भी अज्ञानी और सरल आत्माओं का मन विचलित हुए बिना न रहे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

नास्तिक से भी, परमार्थ से नास्तिक ऐसे दिखावटी आस्तिक द्वारा विशेष अनर्थ होता है। जिस प्रकार मूर्ति नहीं मानने के मत की उत्पत्ति भयंकर अज्ञान में से ही हुई है, उसी प्रकार मूर्ति की उपासना को एक हिंसक कर्तव्य के रूप में जानने अथवा पहचनाने की कुबुद्धि भी मिथ्यात्व में से ही उद्भूत हुई है। सामान्य आत्माएँ स्वत: इस मत की भयंकर अज्ञानता और अहितकरता को समझने की स्थिति में नहीं होती और इसीलिए ज्ञानीजनों ने इसे समझाने का भगीरथ प्रयत्न किया है।

आत्मा और परलोक आदि विद्यमान और प्रमाण-सिद्ध पदार्थों को नहीं मानने वाला नास्तिक जितना अनर्थ नहीं करता है, उससे भी अधिक अनर्थ

आत्मा आदि को मानते हुए भी उसके आंशिक स्वरुप को नहीं मानने अथवा विपरीत प्रकार से मानने वाला आस्तिक करता है, इसीलिए श्री जैनदर्शन में ऐसी आत्माएँ व्यवहार से आस्तिक मानी जाने पर भी परमार्थ से नास्तिकों की श्रेणी में ही आती हैं।

श्री जिनेश्वरदेव के सत्य वचनों को उसी स्वरूप में ग्रहण न कर विपरीत रूप में ग्रहण करने में श्री जिनशासन में आस्तिक्य का भंग माना गया है, जो एक प्रकार की नास्तिकता ही है। *प्रकट नास्तिकता से जो हानि पहुँचती है, उससे भी अधिक हानि प्रच्छन्न नास्तिकता से हो* जाती है। प्रकट नास्तिक के लिए सुसंयोगवश आस्तिक बनने की जितनी संभावना है, उतनी संभावना प्रच्छन्न नास्तिक के लिए प्राय: नहीं है, क्योंकि वास्तविक प्रकार का आस्तिक नहीं होते हुए भी अधिकांशत: आस्तिकता के मिथ्याभिमान में मग्न होकर वह समस्त जीवन को नष्ट करने वाला होता है।

हे प्रभो!

इस जगत् में यदि आपकी प्रतिमा

नहीं होती तो

हम आपके स्वरूप को कैसे जान पाते?

जिन प्रतिमा से तो

प्रभु के स्वरूप का भान होता है ।

अत:

प्रभु के समान

प्रभु की प्रतिमा से भी

उतना ही उपकार होता है ।

2

आकार के आलम्बन की आवश्यकता

श्री जिनेश्वरदेव, उनके मार्ग पर चलने वाले निर्ग्रंथ गुरु और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म - इन तीनों को मानते हुए भी इन तीनों की साधना जिन-जिन विधियों से होती है, उन सब विधियों को नहीं मानने वाली आत्माएँ श्री जिनशासन में परमार्थ से आस्तिक नहीं हो सकतीं।

''श्री जिनेश्वरदेव की साधना जिस प्रकार उनके नामस्मरण से होती है, उनके गुण-स्मरण से होती है, उनके पूर्वापर के चरित्रों के श्रवण से होती है, उनकी आज्ञाओं के पालन से होती है, उनकी भक्ति से होती है, उनकी आज्ञाओं के पालन से होती है, उसी प्रकार उनके आकार, मूर्ति या प्रतिबिम्ब की भक्ति से भी होती है'', - यह सत्य जब तक स्वीकार न किया जाय तब तक श्री जिनेश्वरदेव की कृत उपासना भी अपूर्ण ही रहती है।

श्री जिनेश्वरदेव की पूजा कोई कल्पित वस्तु नहीं है अथवा अपना स्वार्थ साधने के लिए किन्ही धूर्त व्यक्तियों के द्वारा आविष्कृत वस्तु नहीं है। यह तो भक्त-आत्माओं के हृदय की गहरी भक्ति में से निकली हुई एक सहज और अनिवार्य वृत्ति तथा प्रवृत्ति है।

जगत् के सभी प्राणियों की चित्त-वृत्ति अपने-अपने इष्ट पदार्थों के गुण-धर्म की और रूप-रंग के प्रति स्वाभाविक रूप से झुकी हुई होती है। इतना ही नहीं परन्तु छद्मस्थ आत्माएँ वस्तु के गुण-धर्म की पहिचान बहुधा उसके रूप-रंग के आधार पर ही करती हैं। मूर्त पदार्थों के गुण-धर्म भी अधिकांशतः अमूर्त (इन्द्रिय अगोचर) होते हैं तो फिर अमूर्त पदार्थों के गुण-धर्म सम्पूर्णतया अमूर्त हो तो इसमें आश्चर्य जैसी बात ही क्या है? अमूर्त पदार्थों के अमूर्त गुण-धर्मों का स्वरूप, उनके नाम और आकार को छोड़ कर अन्य प्रकार से जाना जाय, ऐसा उपाय इस जगत् में आज तक खोजा नहीं गया है। अमूर्त अथवा मूर्त दोनों में से एक भी पदार्थ के सभी गुण-धर्मों और उसके स्वरुप का बोध छद्मस्थ आत्माओं को उनके नाम और आकार के आलंबन के बिना लेश मात्र भी नहीं हो सकता। ऐसा होते हुए भी ''उसकी भक्ति या उपासना उसके नाम अथवा आकार का आलंबन लिए बिना ही हो सकती है''

ऐसा मानना एक भयंकर भूल है।

'नाम' की भक्ति का स्वीकार और 'आकार' की भक्ति का इन्कार?

नाम की भक्ति को स्वीकार करने के बाद आकार की भक्ति की उपेक्षा करना तो और भी भयानक भूल है। उपास्य का नाम केवल उसके गुणों को लक्ष्य में रखकर नहीं होता परन्तु उसके देहाकार को लक्ष्य में लेकर होता है। यदि उपास्य का नाम केवल उसके गुणों को लक्ष्य में लेकर होता तो प्रत्येक उपास्य को भिन्न-भिन्न नाम देने की आवश्यकता ही नहीं रहती। विभिन्न उपास्यों के समान गुण होते हुए भी उनके देहाकार आदि समान नहीं होते, इसीलिए प्रत्येक का नाम अलग-अलग होता है। देहाकार की भक्ति का फल मानते हुए भी साक्षात् देहाकार की भक्ति को निष्फल मानना - बुद्धि की जड़ता के सिवाय और कुछ नहीं है।

नाम अथवा नाम की स्थापना - यह शब्दात्मक जड़पुद्गलों से बनी हुई है; ठीक उसी प्रकार देहाकार अथवा उसकी स्थापना भी जड़ पुद्गलों से बनी है। शब्दात्मक और स्वल्प जड़ पुद्गलों की भक्ति को फलवती मानना एवम् इन्हीं शब्दों से उत्पन्न असाधारण निमित्त-स्वरुप आकारात्मक विशालकाय बने हुए जड़ पुद्गलों की भक्ति को निष्फल अर्थात् पापवर्धक मानना यह तो क्षुद्र बुद्धि का ही परिणाम कहा जा सकता है।

नाम यदि कल्याणकारी है तो यह नाम जिस स्वरूप का है, वह स्वरूप अधिक कल्याणकारी है - इसमें किसी भी बुद्धिशाली व्यक्ति के दो मत नहीं हो सकते।

सावद्य कौन? निरवद्य कौन?

'नाम की भक्ति निरवद्य है तथा आकार की भक्ति सावद्य है' - ऐसा तर्क करने वाले सावद्य-निरवद्य के भेद को नहीं समझ सके हैं। भक्ति अथवा गुण-प्राप्ति के किसी भी कार्य को सावद्य कहना - यह श्री जैनशासन को मान्य नहीं है; इतना ही नहीं किन्तु कोई भी सभ्य व्यक्ति इस कथन से सहमत नहीं हो सकता। अधिक सावद्य से बचने के लिए अल्प सावद्य के उपयोग को भी यदि सावद्य का कार्य माना जाय तो इस धरती पर कोई भी निरवद्य कार्य नहीं रहेगा अथवा रहेगा तो केवल एक ही - जिसमें हाथ-पैर हिलाये बिना शून्य रूप से (जड़वत्) बैठे रहना या सोए रहना होगा। दूसरे शब्दों में मृतावस्था ही निरवद्य बन कर शेष रहेगी। सम्पूर्ण जीवित अवस्था सावद्य है। इस स्थिति को भक्ति अथवा गुण-प्राप्तिके कार्य में आरोपित करना यह तो भक्ति तथा गुण रहित रहने एवं रखने का ही एक राजमार्ग है।

बालक ज्ञानरहित एवं क्रीड़ाशील स्वभाव का होता है। उसे ज्ञानी बनाने के लिए प्रयत्न करने पर भी, अपने खेलने के स्वभाव के कारण वह शीघ्र ज्ञानी नहीं बन सकता परन्तु केवल इसी बात पर बालक के अज्ञानी रहने का दोष, पढ़ाने में प्रयत्नशील शिक्षक

को नहीं दिया जा सकता। शिक्षक पर ऐसा दोष लगाना जैसे अनुचित है वैसे ही सदा सावद्य जीवन जीने वाले भक्त व्यक्ति की भक्ति की क्रिया को सावद्य कहना भी अनुचित है।

मांसभोजी व्यक्ति की मांसाहार की आदत छुड़ाने के लिए यदि कोई उपकारी उसे वनस्पति आहार की सलाह दे तो केवल इतने पर से ही वनस्पति का सेवन करने वाले अथवा ऐसी सलाह देने वाले को हिंसक मानना केवल मूर्खता ही है। इसी प्रकार यदि कोई वेश्या पतिव्रता बनने का प्रयत्न करे अथवा कोई चोर अपनी चोरी का कार्य छोडकर किसी धन्धे पर लगने का प्रयत्न करे तो वह पापी अथवा हिंसक बन जाता है ऐसा कहना जितना निर्बुद्धिपूर्ण एवं हास्यास्पद है उतना ही हास्यास्पद यह कहना है कि उपास्य परमात्मा की भक्ति का कार्य हिंसापूर्ण है।

उपास्य के आकार की भक्ति के लिए की जाने वाली हिंसा, भक्ति-निमित्तक हिंसा नहीं है पर वह केवल उपासक के स्वाभाविक हिंसक जीवन की अभिव्यक्ति है। उपासक के स्वाभाविक जीवन में हिंसा समाई हुई है अत: वह जितना समय भक्तिकार्य में देता है उतने समय तक वह इस स्वाभाविक हिंसा से मुक्त रहता है। इतना ही नहीं परन्तु पूर्ण अहिंसत्व की प्राप्ति के लिए अहिंसा धर्म की चोटी पर पहुँचे हुए परम अहिंसक परमात्मा की वह भक्ति करता है और इसके परिणामस्वरुप वह भविष्य में सावद्य से हटकर निरवद्यता की ओर अधिक से अधिक आगे बढ़ता है। अपने जीवन की स्वाभाविक सावद्यता का आरोप, भक्ति अथवा गुण-प्राप्ति के कार्यों पर करने वाला अज्ञानी ही है। इतना ही नहीं वह परमोपास्य की भक्ति के एकमात्र राजमार्ग से स्वयं भी च्युत होता है तथा दूसरों को भी च्युत करता है।

आकार को नहीं मानने की बाते अज्ञानजन्य है नाम-भक्ति या आकार-भक्ति को छोड़कर केवल गुण-भक्ति की बातें करने वाले अथवा नाम-भक्ति को मानकर आकार-भक्ति को छोड़ देने वाले उपास्य की भक्ति कर सकते हैं ऐसा मानना केवल आत्मवंचना है। नाम एवं आकार के विना अरूपी उपास्य अथवा उनके गुणों का ग्रहण सर्वथा असम्भव है।

नाम, आकार के बोध से उपास्य के गुणों की याद दिलाता है जबकि आकार नाम के आलम्बन विना उसके साक्षात् गुणों का स्मरण करवाता है। नाम और आकार के जगत् में रहकर नाम एवं आकार की बातों को नकारना बुद्धि का द्रोह है। अपने इष्ट की साकार भक्ति में अविश्वास करने वालों को भी प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप से अपने इष्ट से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं के आकार की भक्ति में विश्वास करना ही पड़ता है।

उदाहरणस्वरुप - एक मुसलमान अपने आराध्य की प्रतिमा को सीधी तरह से मानने से इन्कार करता है फिर भी एक छोटी मूर्ति और उसके अंगों की भक्ति के बदले उसके

हृदय में पूर्ण मस्जिद, मस्जिद का पूरा आकार तथा इसके एक-एक अवयव की भक्ति आ ही पड़ती है। मूर्ति में विश्वास नहीं रखने वाला कट्टर मुसलमान मस्जिद की एक-एक ईंट को मूर्ति की तरह ही पवित्रता की दृष्टि से देखता है तथा उसकी रक्षा हेतु अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता। मूर्ति पर नहीं, तो मस्जिद की पवित्रता पर उसका इतना विश्वास बैठ जाता है कि इसके लिए वह अपने प्राण देने पर अथवा दूसरे के प्राण लेने के लिए तैयार हो जाता है।

मूर्ति के अपमान के स्थान पर उसे मस्जिद का अपमान खटकता है। मस्जिद भी आकार वाली एक स्थूल वस्तु ही है। ऐसी वस्तु अपने इष्ट का साक्षात् बोध कराने के बदले परम्परा से तथा कठिनाई से बोध करवाती है जबकि इष्ट की मूर्ति इसका साक्षात् बोध करवाती है तथा इष्ट के समान ही पवित्र भाव पैदा करती है। मुस्लिम, बाहर से मूर्तिपूजक न होने पर भी जैसे हृदय से अपने इष्ट की मूर्ति का पुजारी है, वैसे ही किसी आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी अथवा प्रार्थनासमाजी, कबीरपंथी, नानकपंथी अथवा तेरापंथी का हृदय भी इष्ट की मूर्ति की भक्ति की उपेक्षा नहीं कर सकता। अपने इष्ट एवं आराध्य की प्रतिमा अथवा चित्र का अपमान इनमें से कोई भी सहन नहीं कर सकता। मूर्तिपूजक अथवा अपूजक दोनों को ऐसे प्रसंगों पर समान आन्तरिक वेदना होती है; फिर भी जब आकार को नहीं मानने की बात आती है तब ऐसा ही लगता है कि ऐसी बातें केवल अज्ञानजनित ही हैं; विश्व के पदार्थों की वास्तविक व्यवस्था के अज्ञान से ही ऐसी बातों का जन्म होता है।

जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति
आशंसा-रहित होकर करनी चाहिए।
परमात्मा की भक्ति में
मुक्ति देने की ताकत है।
जिस भक्ति से मुक्तिरूपी
ऐरावण हाथी खरीदा जा सके
उससे
दुनिया के क्षणिक/तुच्छ
सुख रूपी गर्दभ खरीदना
निरी मूर्खता ही है।

3

प्रतिमा की उपादेयता

विश्व के प्रत्येक पदार्थ की कम-से-कम चार स्थितियाँ होती हैं; नाम, आकार, पिंड और वर्तमान अवस्था। वस्तु की वर्तमान भाव-अवस्था जिस प्रकार वस्तु का बोध कराती है उसी प्रकार उस वस्तु की भूत और भावी अवस्था, उस वस्तु का आकार तथा उस वस्तु का नाम भी वस्तु का ही बोध कराता हैं।

कार्य-कारण सम्बन्ध

इस जगत् में प्रत्येक वस्तु का दूसरी वस्तू के साथ किसी - न - किसी प्रकार का सम्बन्ध होता ही है। ये सम्बन्ध नाना प्रकार के होते हैं। कोई सम्बन्ध कार्य-कारण रूप होता है तो कोई जन्यजनक रूप; कोई स्व-स्वामित्व रूप होता है तो कोई तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति रूप होता है।

अग्नि और धुएँ का कार्य-कारण रूप सम्बन्ध है तथा कुम्हार एवं घड़े का जन्य-जनक रूप। मालिक और नौकर का स्व-स्वामित्व रूप, घड़ा और घड़े के स्वरुप का तादात्म्य रूप तथा घड़े और मिट्टी का तदुत्पत्ति रूप सम्बन्ध है। इसी भाँति शब्द एवं अर्थ का तथा स्थापना और स्थाप्य का भी परस्पर सम्बन्ध है जो क्रम से वाच्य-वाचक तथा स्थाप्य-स्थापक सम्बन्ध कहलाता है।

जिस प्रकार धुएँ के ज्ञान के साथ इसके कारण रूप अग्नि का ज्ञान भी ज्ञाता को होता है परन्तु उसके कारण के रूप में अग्नि को छोड़कर अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता अथवा घड़े को देखते ही उसके निर्माता के रूप में कुम्हार का ज्ञान होता है न कि किसी और का अथवा तो उसके उपादान के रूप में मिट्टी का ज्ञान होता है, परन्तु तन्तु आदि का ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार अग्नि अथवा घड़ा शब्द सुनते ही प्रत्येक को अग्नि और घड़े का निश्चित बोध होता है; परन्तु अन्य किसी पदार्थ का बोध नहीं होता, अथवा अग्नि या घड़े का चित्र देखकर दर्शक को अग्नि और घड़े का ही स्मरण होता है; अन्य किसी पदार्थ का स्मरण नहीं होता है।

यह बात निश्चित रूप से यह बताती है कि कार्य-कारण सम्बन्ध की भाँति वस्तु का वाच्य-वाचक एवं स्थाप्य-स्थापक आदि सम्बन्ध भी विद्यमान है। कार्य-कारण सम्बन्ध को मानना और वाच्य-वाचक सम्बन्ध को न मानना - यह अज्ञानता है। वाचक शब्द निश्चित रुप से वाच्य का बोध करवाता है अतः इस सम्बन्ध से कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता है।

नाम-स्थापना के दो-दो प्रकार

नाम दो प्रकार के होते हैं, ठीक वैसे ही स्थापना भी दो प्रकार की होती है। घट/पदार्थ का 'घड़ा' ऐसा नाम तथा घड़ा पदार्थ रहित शरीरादि अन्य पदार्थ का 'घट' - ऐसा नाम - इसी प्रकार घड़े पदार्थ का आकार वह भी स्थापना और घड़े का चित्रादि में आलेखन, वह भी घड़े की स्थापना।

मूल वस्तु के आकार अथवा मुल आकार की भिन्न वस्तुओं के आकार में कोई भिन्नता नहीं होती, अतः दोनों को एक ही नाम से पुकारा जाता है और दोनों अपने स्थाप्य का समान बोध कराती हैं। हाथी घोड़ों के प्रत्यक्ष आकार अथवा उनके चित्र, राजा-रानी के प्रत्यक्ष आकार अथवा उनके चित्रित आकार हाथी-घोड़े अथवा राजा-रानी का ही बोध कराते हैं, न कि किसी अन्य पदार्थ का। मूल वस्तु जिस प्रकार स्थापना से पहचानी जाती है, इसी तरह स्थापना वस्तु भी आकार से ही पहचानी जाती है। दोनों की पहिचान आकार से होने के कारण दोनों द्वारा बोध कराने का कार्य समान रूप से ही होता है।

उपास्य देव और उनकी स्थापना - दोनों की पहिचान आकार से होती हैं, इसलिए ये दोनों एक ही नाम से सम्बोधित होते हैं। पहिचान, स्मरण अथवा भक्ति के लिए भावपदार्थ में निहित आकार अथवा भिन्न पदार्थ में निहित आकार समान कार्य करता है। तीर्थंकर, गणधर तथा अन्य इष्ट एवं आराध्य पुरुष अपने काल में स्वयं के आकार से ही पहिचाने जाते थे क्योंकि अवधि, मनःपर्यव आदि अतीन्द्रिय ज्ञानों को धारण करने वाले महर्षि भी तीर्थंकरों की अमूर्त आत्मा अथवा उनके गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने में समर्थ नहीं थे। वे भी उन महर्षियों को उनके औदारिक देह रूपी पिंड अथवा उनके आकार से ही पहिचानते थे। तो फिर अतीन्द्रिय ज्ञान रहित अन्य छद्मस्थ आत्माएँ उन्हें उनके पिंड अथवा आकार से ही पहिचान पाते हैं - इसमें विशेषता क्या है?

उपास्य को पहिचानने अथवा उनका परिचय कराने का कार्य जैसे उनके मूल आकार से होता है, वैसे ही अन्य वस्तु में स्थापित उपास्य के आकार से भी वह कार्य हो जाता है; इससे उपास्य की आकारमय स्थापना भी उपासक के लिए उपास्य के समान ही माननीय, पूजनीय एवं वन्दनीय बन जाती है। यह बात अविवादास्पद है।

यहाँ पर कोई ऐसा तर्क करते हैं - ''पत्थर की गाय आदि उन वस्तुओं को पहिचानने के लिए उपयोगी भले ही साबित हों परन्तु दूध देने के लिए तो वह निरर्थक ही है : वैसे ही उपास्य की स्थापना उपास्य की पहिचान कराने का कार्य भले ही करती हो परन्तु सम्यग्दर्शनादि धर्म की प्राप्ति स्थापना से किस प्रकार हो सकती है? इसके लिए वास्तविक गाय को दुहना जिस प्रकार आवश्यक है उसी प्रकार मूल उपास्य की उपासना सार्थक सिद्ध होती है।''

उनका यह तर्क अज्ञानजन्य ही है। इसमें दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक का वैषम्य है। दूध द्रव्य है जबकि सम्यग्दर्शनादि धर्म गुण है। दूध रूपी द्रव्य की प्राप्ति गाय से करनी है; जबकि सम्यग्दर्शनादि धर्म की प्राप्ति उपास्य से नहीं करनी है, परन्तु उपासक को तो उसे अपनी आत्मा में से ही प्रकट करना है। इसको प्रकट करने में उपास्य तो केवल माध्यम है।

जिस प्रकार उपास्य का मूल पिंड व उसका आकार निमित्त रूप बनता है, इसी प्रकार उसकी स्थापना भी निमित्त रूप बन सकती है। उपासक जैसे उपास्य की उपस्थिति में उसके मूल आकार की सेवा-भक्ति से सम्यग्दर्शनादि गुणों को ढकने वाले आवरणों को हटाकर आत्मगुणों को प्रकट कर सकता है, वैसे ही उपास्य की अनुपस्थिति में उपास्य की स्थापना की सेवा-भक्ति द्वारा भी उन गुणों को ढकने वाले आवरणों को हटाकर आत्मगुणों को अवश्य प्रकट कर सकता है।

उपास्य की अनुपस्थिति में उसकी उपासना उपासक के लिए किसी मकान के प्लान के समान है। मकान की अनिर्मित अवस्था में कुशल कारीगर उसके प्लान को ही बार-बार देखकर भवन-निर्माण के कार्य को पूरा करता है। जब तक मकान पूरा नहीं बन जाता, कारीगर को वह प्लान हर समय अपनी नजर समक्ष रखना पड़ता है। ठीक उसी भांति अपनी आत्मा को उपास्य के समान बनाने के लिए उपासक को, जब तक उपास्य जैसी निर्मलता प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक उपास्य की स्थापना को प्रतिपल अपने सम्मुख रखना ही पड़ता है, यह सर्वथा स्वाभाविक है।

ऐसी स्थिति में कोई यह तर्क प्रस्तुत करते हैं - ''शिल्पी की आवश्यकता भवन के प्लान को अपनी नजर के सामने रखने की है, न कि उसकी पूजा करने की। वैसे ही उपास्य के समान बनने के लिए उपासक अपने आराध्य की मूर्ति को अपनी दृष्टि के सम्मुख रखें, परन्तु उसकी पूजा से क्या मतलब है? कारीगर प्लान की पूजा करें, यह जितना अघटित और हास्यास्पद है, उतना ही अघटित और हास्यास्पद जड़-स्थापना की पूजा करना है।''

यह तर्क स्थूल दृष्टि से बड़ा आकर्षक लगता है परन्तु तनिक गहराई से सोचने पर इसका खोखलापन स्पष्ट दिखाई देता है। कारीगर के लिए जिस मकान का प्लान निरन्तर देखने योग्य है, वह मकान उपासना के योग्य नहीं है, जबकि उपासक जिस देव की प्रतिमा की पूजा करता है, वह स्थाप्य उसके लिए वन्दनीय एवं पूजनीय है। प्लान से निर्मित

(मकान) जिस प्रकार अपूजनीय है, इसी प्रकार जिसकी प्रतिमा है वह स्थाप्य भी यदि अवन्दनीय/अपूजनीय होता तो अवश्य उसकी प्रतिमा का पूजन आदि निरर्थक ठहरता, परन्तु यहाँ तो स्थापना के विषय में स्थाप्य, परम उपास्य है।

साक्षात् आराध्य की उपासना से उपासक जिस प्रकार कार्यसिद्धि प्राप्त करता है; उसी प्रकार स्थाप्य की प्रतिमा की उपासना से भी उसकी कार्यसिद्धि होती है।

यदि मूल वस्तु पूजनीय है तो उसका नाम भी पूजनीय बन जाता है। ऐसी स्थिति में उसका आकार आदि भी पूजनीय बन जाए तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

मंगल-कामना

नेत्रानन्दकरी भवोदधितरी श्रेयस्तरोर्मञ्जरी,
श्री मद्धर्ममहानरेन्द्रनगरो, व्यापल्लताधूमरी।
हर्षोत्कर्षशुभप्रभावलहरी, रागद्विषां जित्वरी,
मूर्तिः श्री जिनपुङ्गवस्य, भवतु, श्रेयस्करी देहिनाम् ।।१।।

श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति - भक्तजनों के नेत्रों को आनंद पहुँचाने वाली है, संसार रूपी सागर को पार करने के लिये नाव समान है, कल्याणरूपी वृक्ष की मंजरी जैसी है, धर्म रूप महा नरेन्द्र की नगरी तुल्य है, नाना प्रकार की आपत्ति रूपी लताओं का नाश करने के लिये धूमरी-धूमस जैसी है, हर्ष के उत्कर्ष के शुभ प्रभाव का विस्तार करने में लहरों का काम करने वाली और राग तथा द्वेष रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराने वाली है, ऐसी श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति - जगत् के जीवों का कल्याण करने वाली बनो!

4

परमात्मा का स्वरूप-बोध

जैन-शासन में उपास्य की भावावस्था की पूजा भी उपासक के शुभ परिणाम के अनुसार ही फल देती है, उपास्य की प्रसन्नता अथवा अन्य किसी नियमानुसार नहीं। क्योंकि जैन-शासन के उपास्य वीतराग होने से वे कभी प्रसन्न/अप्रसन्न नहीं होते हैं। हाँ, व्यवहार की अपेक्षा से इतना कह सकते हैं कि वे तारक हमेशा प्राणी मात्र पर एक समान प्रसन्न रहने वाले तथा कृपा रस से भरपूर हैं। इतना होने पर भी जब तक उपासक, उनके प्रति सद्भाववृत्ति वाला अथवा आराधक भाव वाला नहीं बनता है, तब तक वह कुछ भी फल प्राप्त नहीं कर सकता है।

आराधक को अपने शुभ परिणाम से ही तिरने का है, इस शुभ परिणाम की जागृति के लिए आराध्य का साक्षात् देह तथा उसका आकार जिस प्रकार वन्दन-पूजन तथा नमस्कारादि में निमित्त बनता है, वैसे ही आराध्य की स्थापना भी उनकी पूजा आदि द्वारा आराधक के परिणामों को निर्मल बनाती है।

श्री वीतराग की साक्षात् उपासना भी जैसे श्री वीतराग को लेश भी उपकारक नहीं है, फिर भी वह पूजक के लिए उपकारक बनती है, वैसे ही श्री वीतराग की स्थापना की उपासना भी श्री वीतराग को किसी भी प्रकार से लाभदायक नहीं होने पर भी, उपासकों को तो अवश्य लाभ करती है; क्योंकि इससे उपासक के गुण-बहुमान, कृतज्ञता, विनयादि गुणों का पालन अवश्य सिद्ध होता है। दोष-निवारण व गुण-प्राप्ति आदि की प्रेरणा भी अवश्य होती है। गुण-बहुमान आदि एक-एक कार्य भी महान् कर्म-निर्जरा कराने वाला है, तो फिर वे समस्त कार्य जहाँ एक साथ सिद्ध होते हैं, ऐसे श्री वीतराग की उपासना सुज्ञ पुरुषों को अत्यन्त आदरणीय बने, इसमें आश्चर्य भी क्या है!

सभी को स्थापना स्वीकार करनी ही पड़ती है

अपने उपास्य को वीतराग मानने वाले के लिए उसकी उपासना हेतु जिस प्रकार मूर्ति आदि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जो अपने आराध्य को वीतराग नहीं मानकर रागी मानते हैं, उनको भी, अपने आराध्य की उपासना के लिए उसकी स्थापना की आवश्यकता

होती है तथा राग-द्वेष युक्त होते हुए भी अपने आराध्य को सर्वज्ञ मानने वाले, उनकी प्रतिमा द्वारा होने वाली आराधना या विराधना से प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होते हैं - यह स्वाभाविक है। ऐसे रागी और द्वेषी परमेश्वर का नाम मात्र जपने पर भी अपनी इष्टसिद्धि हो जाती है - ऐसा मानने वाले उनकी प्रतिमा की पूज्यता (जिसमें नाम-स्मरण अवश्य आ जाता है) में विश्वास न करें अथवा इससे इष्टसिद्धि होती है - ऐसा नहीं मानें - यह कैसी विचित्रता है?

जो अपने इष्ट को सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी मानते हैं, उनका कहना है कि जिस भाँति विशाल हाथी या पर्वत एक छोटे दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं और उस समय उनका आकार मात्र ही छोटा बनता है परन्तु उनके शरीर के सभी अवयव वैसे ही रहते हैं उसी प्रकार व्यापक ईश्वर की प्रतिमा की आराधना साक्षात् व्यापक ईश्वर की आराधना जितनी ही फलवती होती है।

सामान्य व्यक्ति के लिए व्यापक ईश्वर की कल्पना असम्भव है। वह तो उसकी प्रतिमा द्वारा ही सम्भव होती है और उसकी उपासना में उपासक एकाग्रता से लग सकता है।

अब जो लोग गोखला आदि की स्थापना कर अपने इष्ट को वन्दन, नमन आदि करते हैं, उनको स्थापना में तो विश्वास करना ही पड़ता है, परन्तु इस स्थापना में आकार आदि का साम्य न होने से ऐसे लोगों की दशा दोनों ओर से भ्रष्ट होने जैसी बन जाती है। उन्हें अपना मत छोड़ना पड़ता है और फल की प्राप्ति भी नहीं होती। जो स्थापना में तनिक भी विश्वास नहीं रखते, वे अपने सम्मुख किसको रखकर वन्दन, नमस्कार आदि करते है? यह अत्यन्त विचारणीय है।

किसी वस्तु को सामने रखे बिना जो वन्दन, नमन करते है उन्हें विचारशून्य एवं अयोग्य आचरण करने वाले कह सकते हैं। अपने इष्ट की मानसिक-मूर्ति की कल्पना कर, उसके सम्मुख वन्दन-नमस्कारादि करते हों, तो ऐसी अदृश्य एवं अस्थिर मूर्ति को वन्दन-नमन करने से यदि फल की प्राप्ति होती है तो दृश्य एवं स्थिर मूर्ति के सम्मुख साक्षात् वन्दन-नमन करने से अपेक्षाकृत अधिक ही फल मिलता है - इस बात से वे भी इन्कार नहीं कर सकते। ऐसी मानसिक मूर्ति की कल्पना करने की शक्ति सामान्य व्यक्ति में सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं परन्तु उस मूर्ति का कल्पित रूप ध्यान में लाने की शक्ति भी, दृश्य एवं स्थिर मूर्ति को देखने से ही आ सकती है अतः सही रूप में कल्पित मूर्ति से, दृश्य मूर्ति ही अधिक उपकारक होती है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

श्री जैनशासन के अनुयायी अपने इष्ट एवं उपास्य के रूप में सर्वज्ञ और वीतराग परमात्मा को मानते हैं। ये परमात्मा मोक्ष जाने से पूर्व देहधारी होते हैं, इसीलिए जैनों के

लिए अपने आराध्य का तत्कालीन आकार अवश्य पूजनीय है। अशरीरी परमात्मा शास्त्र-रचयिता कभी भी नहीं बन सकते है।

जो अपने इष्ट परमात्मा को शास्त्रों एवं तत्त्वों के निरूपक के रूप में मानते हैं, उन्हें अपने इष्ट का देह-धारण मानना ही पड़ेगा। कारण यह है कि देहधारण बिना, मुख का होना असम्भव है और मुख के बिना उपदेशक बनने की स्थिति भी असम्भव है। अपने परमात्मा को सर्वथा एवं सर्वदा शरीररहित मानने वालों को यह भी मानना पड़ेगा कि इनके शास्त्र ईश्वर-रचित नहीं, परन्तु ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य अल्पबुद्धि एवं अल्पशक्ति वाले के कहे हुए हैं और उनके शास्त्रों की प्रामाणिकता सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान परमात्मा के वचनों के बराबर कभी नहीं बन सकती है।

जैनों की मान्यता

जैन अशरीरी सिद्धों की पूजा करते हैं। सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिए इन आत्माओं ने जो कुछ भी प्रयोग किये हैं, वे उनकी साकार और देहयुक्त अवस्था में ही हुए हैं अतः इस अवस्था की पूजनीयता भी जैनों को निश्चित रूप से मान्य है।

जैन परमात्मा को साकार और निराकार - दोनों रूपों में मानते हैं। साकार परमेश्वर को वीतराग एवं सर्वज्ञ मानने के साथ-साथ ही उन्हें शास्त्र और तत्वों के उपदेशक भी मानते हैं। इसीलिए इनको निराकार एवं साकार परमेश्वर की वे सभी अवस्थाएँ वंदनीय, नमनीय एवं पूजनीय हैं। यदि वे उपकारियों की ऐसी भावदशा को भी वन्दनीय न मानें तो गुणवान् होते हुए भी वे सर्वगुण-सम्पन्न आत्माओं का आदर करने वाले नहीं बन सकते तथा उपदेश आदि द्वारा स्वयं के ऊपर किये गये अतुलनीय उपकारों को नहीं पहचानने वाले साबित होते हैं। ऐसी स्थिति निष्ठुर एवं कृतघ्न की ही सम्भव हैं; अन्य की नहीं। वीतराग, सर्वज्ञ तथा तत्त्वोपदेशक परमेश्वरों की पूजनीयता को स्वीकार करने में किसी भी सज्जन व्यक्ति को तनिक भी आपत्ति नहीं हो सकती।

गुण-बहुमान एवं कृतज्ञता आदि गुणों की कीमत समझने वाले तो, ऐसे सर्वश्रेष्ठ, उपकारी तथा महानतम गुणों से युक्त महापुरुषों की सेवा, पूजा, आदर, भक्ति, वन्दन, स्तुति आदि अधिक से अधिक हों - इस बात में विश्वास रखते हैं। इस सेवा-पूजा से उन पूजनीय महापुरुषों को कोई लाभ न होते हुए भी उनमें ध्यान लगाने वाली आत्माओं को अपने पवित्र उद्देश्य के परिणामस्वरूप कर्म-निर्जरादि उत्तम फल की प्राप्ति अवश्य होती है।

श्री जैनशासन में पूजा की फल-प्राप्ति हेतु पूज्य की प्रसन्नता की अपेक्षा पूजक की शुभ भावना को ही आधारभूत माना गया है। पूज्य की भाव-अवस्था का पूजन भी उपासक की गुणग्राहकता तथा कृतज्ञतादि गुणों के आधार पर ही फल देने वाला होता है। ऐसी दशा में इन्हीं गुणों के शुभ अध्यवसाय से तथा आत्मशुद्धि को प्राप्त करने के शुभ संकल्प से प्रतिमा के माध्यम से पूज्य की वन्दना, उपासना आदि आदि हो तो वे कर्मनिर्जरादि उत्तम फल को निश्चित रूप से देने वाली होती हैं।

देव-गुरु आदि की आराधना से होने वाली कर्म-निर्जरा आराध्य द्वारा प्रदत्त नहीं होती, किन्तु देव-गुरु आदि के आलम्बन के कारण आराधक को हुए शुभ परिणाम के अधीन है, यह बात हम ऊपर देख चुके हैं।

भाव-अवस्था की आराधना भी यदि आराधक की शुभ भावना के आधार पर ही फलवती होती है तो फिर मूर्ति अथवा स्थापना द्वारा होने वाली आराधना में तो आराधक के शुभ अध्यवसाय रहते ही हैं। ऐसा कौन कह सकता है कि ये अध्यवसाय शुभ नहीं होकर मलिन है? भाव-अवस्था की आराधना, आराध्य के उपस्थिति-काल में ही करने की होती है क्योंकि ऐसी स्थिति में आराध्य की उत्तमता तथा उपकारकता आदि को साक्षात् देखने से भक्ति की जागृति स्वाभाविक है।

जब आराध्य की स्थापना द्वारा भक्ति, आराध्य के अनुपस्थिति काल में करने की होती है तब आराध्य की श्रेष्ठता और भक्ति पात्रता, उपदेश, शास्त्र एवं परम्परा द्वारा हृदय में ठसी हुई होती है। भावावस्था की आराधना करने वालों की अपेक्षा स्थापना द्वारा आराधना करने वालों की भक्ति एवं पूज्यता की बुद्धि अधिक स्थिर बनी हुई है, ऐसा मानना चाहिए।

उपकारी की जीवितावस्था में उसके उपकारों के स्मरण की अपेक्षा उसकी अनुपस्थिति में उसके उपकारों का स्मरण करने वाला उपकारी के प्रति कम आदर वाला होता है, ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता परन्तु अधिक आदर करने वाला होता है, ऐसा कहा जाय तो भी गलत नही है। व्यक्ति की उपस्थिति की अपेक्षा उसकी अनुपस्थिति में उसको याद करने वाला उसका सच्चा अनुरागी कहा जाता है। इसी प्रकार पूज्य की विद्यमान दशा के बदले उसकी अविद्यमान दशा में उसकी भक्ति सच्चे एवं अन्तरंग भाव वाले के अलावा अन्य किसी से नहीं हो सकती, ऐसा स्वीकार करना ही पड़ेगा।

'हृदय में भक्ति-भाव के बिना भी दिखावे के कारण स्थापना की भक्ति करने वाले बहुत नजर आते है' - ऐसा तर्क करने वालों को समझना चाहिए कि यह स्थिति जिस प्रकार

स्थापना के लिए है उसी प्रकार भाव-अवस्था की भक्ति के लिए भी है। भाव-अवस्था की भक्ति करने वाले सभी हृदय से व सच्चे भाव से करते हैं - ऐसी बात नहीं है। देखा-देखी, लोभ, लालच, माया अथवा अन्य कुबुद्धि के वश होकर भी भक्ति करने वाले होते हैं। यही बात स्थापना के लिए भी सम्भव है परन्तु भावावस्था की भक्ति करने वालों की तरह कई ढोंगी और पाखंडी भी होते हैं - इससे सभी वैसे हो जाते हैं, ऐसा तो कोई भी नहीं कह सकता। इसी तरह स्थापना की भक्ति करने वालों में भी कई झूठे होते हैं, पर इससे सभी वैसे हो जाते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार आराध्य की अनुपस्थिति में उनके आदर से होने वाली फल-प्राप्ति के लिए स्थिर एवं शुद्ध भक्ति की आवश्यकता है। भक्ति की यह स्थिरता और शुद्धता आराधक को अत्यन्त शुभ फल देने वाली होती है, यह निर्विवाद है।

5

जिनमन्दिर की आवश्यकता

स्थापना की भक्ति अपेक्षाकृत पूजक के अधिक आदर की सूचक है। यह बात सिद्ध होने के पश्चात् स्थापना की भक्ति आदि के लिए मन्दिर आदि की कितनी अधिक आवश्यकता है, यह समझना और समझाना बहुत ही सुगम हो जाता है। कोई भी शुभ प्रवृत्ति उसके लिए अलग स्थान बिन स्थिर नहीं हो सकती हैं।

विद्याभ्यास या कला-कौशल के अभ्यास के लिए विद्यालय, कॉलेज एवं युनिवर्सिटी आदि के स्वतन्त्र भवनों की आवश्यकता सबसे पहले होती है। ठीक उसी भांति देवभक्ति, गुरुभक्ति अथवा धर्मक्रिया आदि करने के लिए भी पृथक् स्थानों के निर्माण बिना उनकी निर्विघ्न प्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

जो लोग स्कूल, कॉलेज, यूनिवर्सिटी, बोर्डिंग-हाऊस, ज्ञानशाला, दानशाला, धर्मशाला, औषधालय एवं प्रसूतिगृह आदि के निमित्त स्वतंत्र भवन की सलाह देते हैं, वे ऐसा कभी नहीं कह सकते हैं कि देवभक्ति के लिए स्वतंत्र मकान की जरूरत नहीं है। फिर भी वे यदि ऐसा कहने के लिए तैयार हो जाते हैं तो समझ लेना चाहिए कि ऐसे लोगों को अन्य पदार्थों के लिए जो लगन है, इतनी भी देवभक्ति के लिए नहीं है। अन्य सभी कार्य जितने आवश्यक हैं उतनी ही देवभक्ति भी आवश्यक है, अथवा अन्य सभी कार्यों की तुलना में देवभक्ति अधिक आवश्यक है, ऐसा मानने वाला वर्ग ऐसे मनोहर एवं रमणीय देवालयों की आवश्यकता को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता, जहाँ अधिक सुगमतापूर्वक देवभक्ति हो सकती है।

देवभक्ति के लिए अलग से यदि विशाल और मनोहर मन्दिर हों, तभी ऐसे क्षेत्रों में अच्छे साधुओं का आवागमन सुलभ एवं सम्भवित बनता है। अच्छे साधुओं को गृहस्थों के वैभव और समृद्धि से कोई प्रयोजन नहीं होता; अत: जैसे-तैसे क्षेत्रों में उनका विहार नहीं होता। सुसाधु अधिकतर ऐसे क्षेत्रों में विहार करते हैं, जहाँ जिनेश्वरदेव की भक्ति के लिए अधिक संख्या में सुन्दर मन्दिर आदि बने होते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे ही

क्षेत्रों में अच्छे श्रावकों और धर्मार्थी आत्माओं का विशेष रूप से होना सम्भव है; साथ ही साथ इसी कारण वहाँ संयम की सुरक्षा, वृद्धि आदि भी आसानी से हो सकती है।

साधु-समागम की सुलभता का यदि कोई प्रधान साधन है तो वह जिनेश्वरदेव की भक्ति के लिए बने पर्याप्त सुन्दर मन्दिर ही हैं। इन मन्दिरों के अभाव में साधुओं का आगमन प्रायः असम्भव-सा बन जाता है तथा साधु-समागम बिना सुपात्र-दान, श्री जिनवचन का श्रवण तथा संसार से छुटकारा पाने के लिए अत्यन्त उपयोगी सम्यग्दर्शन, देशविरति तथा सर्वविरति आदि गुणों के लाभ से हमें वंचित रहना पड़ता है। केवल इतना ही नहीं साधर्मियों के दर्शन भी दुर्लभ बन जाते हैं।

परिणाम यह होता है कि ऐसी स्थिति में साधर्मिक की भक्ति आदि सम्यक्त्व को निर्मल बनाने वाले आचरण का पालन भी अशक्य बन जाता है।

श्री जैनशासन में साधुओं का किसी एक स्थान पर नित्य-वास निषिद्ध हैं क्योंकि उससे श्रावकों के साथ उनका स्नेह बढ़ता है तथा ममत्व की प्रवृत्ति का पोषण होता है। परिणामस्वरूप धर्मभावना की वृद्धि के बदले हानि होती है; परन्तु श्री वीतराग परमात्मा की पावन प्रतिमा से अधिष्ठित हुए मन्दिर के सम्बन्ध में ऐसा कुछ नहीं बनता। इस स्थान पर सर्व साधारण समान भक्ति भाव से सदा-सर्वदा आ सकते हैं।

श्री जिनमन्दिर किसी भी वर्ग विशेष के पक्षपात अथवा अनुराग का कारण नहीं बनता; अतः वह हमेशा समान रूप से सभी की भावनाओं की अभिवृद्धि का स्थान बना रहता है। सर्वगुणसम्पन्न परमात्मा की अध्यक्षता वाले जिनमन्दिर के विषय में इस बात का अनुभव प्रत्येक जिज्ञासु को प्रत्यक्षसिद्ध है। जब किसी साधु के एक ही स्थान पर एक, दो या अधिक चातुर्मास हो जाते हैं तो ऐसे स्थान पर पक्षपात आदि के अनेक प्रसंग बन पड़ते हैं पर श्री जिनेश्वरदेव से अधिष्ठित मन्दिर सैकड़ों अथवा हजारों वर्षों तक एक ही ढंग से धर्मवृत्तियों का पोषण करने वाले होते हैं तथा इनके आलम्बन से सभी लोग समानधर्मीपन की भावना को दृढ़ बना सकते हैं।

जैनशास्त्रों के कथनानुसार श्री तीर्थंकरदेवों के विद्यमानकाल में अर्थात् चौथे आरे में धर्मात्माओं की बस्ती वाले प्रत्येक गाँव में जिनमन्दिरों की अधिकता होती थी और ऐसे तारक मन्दिरों के आलम्बन से ही उस समय के लोगों को भी अनेक प्रकार के धार्मिक लाभ होते थे।

धर्म भावना को बनाये रखने के लिए जिस प्रकार मन्दिरों की जरूरत है उसी प्रकार

लोभ और परिग्रह के पाप से उपार्जित द्रव्य के सद्व्यय के लिए भी जिनमन्दिरों की खास आवश्यकता है। धर्म के लिए धन अर्जित करने का जैनशासन में कोई विधान नहीं है परन्तु पापसंज्ञाओं के कारण उपार्जित द्रव्य का सदुपयोग करने का तथा उत्तम धर्मक्षेत्रों में दान देकर उत्तम फल प्राप्त करने का तो जैनशासन में विधान अवश्य है।

परमात्मा के उपदेश अथवा शासन से धर्मी आत्मा संग्रह किये हुए अस्थिर एवं विनाशी द्रव्य का उपयोग, परमात्मा के मन्दिर आदि के लिए न करे, तो वह रंक आत्मा सर्वसमर्पणबुद्धि से, परमात्मा की आज्ञापालन के लिए कैसे तैयार होगा? परमात्मा की आराधना हेतु, परिग्रह की ममता कम करने के लिए अथवा गृहस्थावस्था में उदारता आदि सद्गुणों की सर्वोत्कृष्ट फल-प्राप्ति तथा श्री जिनभक्ति के लिए मन्दिरों एवं मूर्तियों से बढ़कर सुन्दर स्थान जगत् भर में अन्यत्र कहाँ मिल सकता है?

परमात्मा के शासन का अपने ऊपर अतुल भावोपकार है - इस बात को समझने वाले पुण्यात्मा, परमात्म-परायण बनने के लिए मन्दिर एवं मूर्ति पर होने वाले अधिक से अधिक धन-व्यय को कम ही मानते हैं तथा इससे विपरीत दिशा में होने वाले धन-व्यय को अनर्थकारी एवं सांसारिक बन्धनों में जकड़ने वाला मानते हैं। प्रभुशासन को प्राप्त गृहस्थ तो ऐसा मानते हैं कि जिनभक्ति आदि में उपयोग में नहीं आने वाला द्रव्य प्रायः स्वयं की तथा स्वयं के वंशजो की परिग्रह-भावना का पोषक होता है। केवल इतना ही नहीं पर वह तो उनको तथा उनकी संतति को विलासता के मार्ग पर आगे बढ़ाकर उन्हें अधोगति में धकेलने वाला बनता है।

पुत्र-पौत्रों आदि को दी हुई सम्पत्ति अधिकांशतः ऐसे लोगों के स्वामित्व में चली जाती है, जो धर्म-परायण नहीं है तथा उस पर अधिकार भी ऐसे ही वर्ग का बन जाता है।

मन्दिर एवं मूर्ति पर किया हुआ धनव्यय नष्ट नहीं होता, परन्तु रूपान्तरित हो जाता है, जब कि भोगों के उपभोग में, ऐश-आराम में तथा मौज-शौक के साधनों पर खर्च किया हुआ धन क्षणिक फल देकर पूर्ण रूप से नष्ट होता है तथा भोक्ता के लिए अनर्थ एवं उन्मादबुद्धि का कारण बनता है और उस मार्ग में व्यय किया हुआ एक पैसा भी परमात्मा अथवा उसके पवित्र शासन की आराधना के मार्ग में उपयोगी नहीं बनता।

अविनाशी और अपार सुख से भरपूर मोक्ष एवं इसकी प्राप्ति के पथप्रदर्शक तथा आत्म-तत्त्व और अनात्म-तत्त्व का भेद समझा कर आत्म-तत्त्व के उपासक बनाने वाले परमात्मा के मनोहर मन्दिरों में एवं इन तारकों की सुन्दर प्रतिमाओं में सर्वस्व अर्पित कर देने

की भावना कृतज्ञ आत्माओं में न हो, ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसी बुद्धि कृत्रिम या निरर्थक नहीं होती परन्तु स्वाभाविक एवं सार्थक होती है।

धर्म-दृष्टि से यह धन-व्यय, आत्मा को परमात्मा बनाता है, व्यवहारदृष्टि से मूर्ति और मन्दिर के रूप में जगत् में स्थायी रहता है तथा दीर्घ-काल तक अनेक का उपकार करता हुआ बना रहता है। जीवन में प्राप्त पदार्थों का श्रेष्ठतम उपयोग कराने वाला यदि कोई भी मार्ग है तो वह इस प्रकार श्री जिनमन्दिर और श्री जिनमूर्ति आदि की भक्ति में होने वाला धनव्यय ही है। धन के सद्व्यय का इससे श्रेष्ठ मार्ग अन्य नहीं हो सकता; क्योंकि दूसरा कोई भी मार्ग इस प्रकार कल्याणकारी हो, ऐसा सम्भव नहीं है।

धन धन श्री अरिहन्त ने रे,
जेणे ओलखाव्यो लोक सलूणा ।
ए जिन नी पूजा विना रे,
जनम गुमाव्यो फोक सलूणा ।।

卐

अमिय भरी मूर्ति रची रे,
उपमा न घटे कोय ।
शान्त सुधारस झीलती रे,
निरखत तृप्ति न होय ।।

6

क्या जिनपूजा में हिंसा हैं?

'श्री जिनेश्वरदेव की भक्ति के लिए मूर्ति एवं मन्दिरों पर होने वाला धनव्यय निरर्थक नहीं अपितु सार्थक है' इतना स्वीकार करने के बाद भी कई लोगों के मन में एक शंका काँटे की तरह चुभती है - ''श्री जिनपूजा में पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के जीवों का विनाश होता है तो ऐसी पूजा किस प्रकार उपादेय बन सकती है? अहिंसक शासन में हिंसक प्रवृत्ति धर्म बनती है, ऐसा प्रतिपादन करना क्या असंगत नहीं है?''

ऐसी शंका का जन्म जिनशासन की अहिंसा के वास्तविक ज्ञान के अभाव में होता हैं। 'जिसमें जीवहत्या होती है, वह सारी क्रिया ही हिंसक है' अथवा जीव का वध होना, इसी का नाम हिंसा है ऐसा जैनशास्त्र ने कभी नहीं कहा। जैनशास्त्रानुसार - 'विषय-कषायादि की प्रवृत्ति करते अन्य जीवों को प्राणहानि पहुँचाना, इसी का नाम हिंसा है।' विषय-कषायादि की प्रवृत्ति बिना होने वाले प्राण-नाश आदि को भी हिंसा मान लिया जाय तो दान आदि एक भी धर्म-प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इन सब में जीववध तो समाया हुआ ही है।

यदि जिनपूजा के कार्य में जीववध है तो गुरुभक्ति, शास्त्र-श्रवण, प्रतिक्रमण आदि कार्यों में क्या जीववध नहीं है? अवश्य है; परन्तु उसमें उद्देश्य जीववध का नहीं, पर गुरुभक्ति आदि का है; अत: ऐसी दशा में इसे हिंसा का कार्य नहीं कहा जा सकता। इसी भाँति जिनपूजा में भी उद्देश्य जिनभक्ति का है, अत: उसे हिंसक कार्य कैसे कह सकते है? केवल जीववध को ही यदि हिंसा का नाम दे दिया जाय तो नदी पार करने वाले तथा गाँव-गाँव विहार करने वाले साधु को भी हिंसक ही कहा जाएगा। साथ ही लोभ आदि परिग्रह को सहने वाले तथा उग्र तपस्या द्वारा शरीर को सुखाने वाले एवं महाव्रतों के संरक्षण हेतु अवसर आने पर अपने प्राणों की बलि देने वाले भी हिंसा का कार्य करने वाले हैं, ऐसा कहना पड़ेगा।

इसके जवाब में यदि ऐसा कहा जाय कि इन सब कार्यों के लिए भगवान की अनुमति है - तो इसके साथ ही प्रश्न करना पड़ेगा कि क्या हिंसा के कार्यों के लिए भगवान कभी आज्ञा देते हैं? क्या ऐसा हो सकता है कि भगवान् को हिंसा करने की तो नहीं पर करवाने की छुट है? पर नहीं, भगवान भी त्रिकरणयोग से हिंसा के त्यागी होते हैं। यदि इन

कार्यों में हिंसा ही होती तो भगवान कभी भी ऐसी आज्ञा नहीं देते। परन्तु नदी पार करना आदि कार्य संयमरक्षा के लिए हैं, न कि भौतिक सुख पाने के लिए, इसलिए उन प्रवृत्तियों को हिंसक नहीं पर अहिंसक माना गया है।

यहाँ ऐसा तर्क होना भी स्वाभाविक है - ''श्री जिनपूजा भक्तिस्वरूप होने से उसमें होने वाली विराधना यदि हिंसा नहीं है तो पंच महाव्रतधारी साधु द्रव्यपूजा क्यों नहीं करते?''

इसका उत्तर यह है कि साधुओं के द्रव्यपूजा नहीं करने का कारण यह नहीं है कि यह हिंसा-कार्य है परन्तु यह है कि वे द्रव्य के त्यागी होते हैं। अधिकार-विशेष से क्रिया-भेद होता है। द्रव्यपूजा के अधिकारी द्रव्य को धारण करने वाले होते हैं। साधुओं को स्नान नहीं करने की प्रतिज्ञा होती है, स्नान द्रव्यपूजा के लिए आवश्यक है, इसलिए साधुओं के लिए यह कार्य उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध है।

गृहस्थ स्नान करने वाले होते हैं तथा द्रव्य के संगी भी। इसलिए भक्ति के निमित्त द्रव्यपूजा उनके लिए आवश्यक है और उसमें प्रमत्तयोग नहीं होने से अनिवार्य रूप से होने वाला प्राणनाश, हिंसा रूप नहीं है। औषधि रोगी के लिए लाभदायक है अतः स्वस्थ वैद्य को भी इसका सेवन करना चाहिये, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता। द्रव्यपूजन आरम्भ एवं परिग्रह के रोग से पीड़ित आत्माओं को उस रोग से छुटकारा दिलाने के लिए अर्थात् आरम्भ और परिग्रह के विचार एवं आचरण से दूर रखने के लिए विहित किया हुआ है।

साधु आरम्भ और परिग्रह के रोग से मुक्त हैं अतः उनको द्रव्यपूजन रूपी औषधि लेने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ एक दूसरा ऐसा तर्क भी उठने की सम्भावना है कि - ''पृथ्वीकायादि के आरम्भमय द्रव्यपूजन से निरारम्भमय सर्वविरति के ध्येय की सिद्धि किस प्रकार होती है?''

इसका सीधा और सरल उत्तर है कि जिन गुणों के प्रति जिस मनुष्य की अत्यन्त श्रद्धा होती है, वह उन गुणों को प्राप्त करने के अध्यवसाय वाला होता ही है और उसे वह शुभ अध्यवसाय ही अनन्त निर्जरा करवाने वाला बनता है। ऐसी निर्जरा से आत्मा निर्मल बनकर स्वयं के क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक गुणों को प्राप्त करती है।

गुणप्राप्ति होने से गुणवान् के वचनों के प्रति श्रद्धा बढ़ती है। इस श्रद्धा की तीव्रता में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती है, त्यों-त्यों आत्मा में गुणवान् के वचनानुसार आचरण करने की तत्परता जगती है। आचरण की इस तत्परता में से बाहरी व भीतरी सभी संयोगों का भोग देने की तैयारी उत्पन्न होती है। इसी का नाम सर्वविरति है। इस प्रकार परम्परा से प्रभुमूर्ति का पूजन सर्रविरति के ध्येय को पाने का साधन बन सकता है। इतना अवश्य है कि श्री जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा को पूजने वाले सभी लोग सभी भव में सर्वविरति के ध्येय को

पहुँच जायें, ऐसा कोई नियम नहीं है।

सर्वविरति अंगीकार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इसी भव में मोक्षप्राप्ति नहीं होती तो भी सर्वविरति की आराधना निष्फल नहीं मानी जाती। इस प्रकार कई भवों तक विराधना का वर्जन तथा आराधना का सम्पादन होने के पश्चात् ही सर्वविरति भवान्तर में मोक्ष प्रदान करती है। इसी प्रकार अविधि से बचता हुआ और विधि का पालन करता हुआ द्रव्यपूजा करने वाला साधक भवान्तर में सुगमता से सर्वविरति तक पहुँच सकता है; क्योंकि श्री जिनेश्वर भगवान की पूजा करने वाला इनके राज-वैभव अथवा सुखसमृद्धि को सम्मुख रखकर उनको नहीं पूजता परन्तु वह तो आरम्भ-समारम्भ और विषय-कषाय के पूर्ण त्याग से सेवित अनगारपने की पूजा करता है। इस प्रकार भगवान का पूजन सर्वविरति आदि गुणों की ओर अत्यन्त श्रद्धा धारण करके होता है अतः वह सर्वविरति को दिलाने वाला होता है।

क्या प्रभु-पूजा के अर्थी हैं?

किसी को ऐसा तर्क सम्भव है "श्री जिनेश्वरदेव हिंसा का त्याग करने के लिए साधुओं को संसार-त्याग का उपदेश दें, तीव्र कष्टों को सहन करने का कहें तथा अन्त में प्राणत्याग तक की बात कहे पर अपनी स्वयं की पूजा के लिए हिंसा आदि हो तो भी इसका निर्जरादि फल बतावें तो क्या यह उचित है?"

इसका जवाब है कि दूसरे मतों की अपेक्षा जैन मत में श्री जिनेश्वर ऐसी कोई एक आत्मा नहीं है। ऐसी आत्माएँ अनन्त हो गई हैं और अनन्त होने वाली हैं। इन सब आत्माओं की पूजनीयता का निरूपण करना तथा उसमें व्यक्तिगत पूजा के हेतु की कल्पना करना, सर्वथा विरुद्ध है। समुदाय की भक्ति के निरूपण में व्यक्तिगत पूजा के प्रवर्तकपने की कल्पना करना भयंकर दोषदृष्टि है।

कोई सज्जन, दुर्जन की संगति से होने वाली हानियाँ तथा सज्जन की संगति से होने वाले लाभ बतावे, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ऐसा कहकर वह अपनी महत्ता बताने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सुपात्र-दान का उपदेश देने वाला साधु स्वार्थी है।

कोई साधु उपदेश देते समय यह कहे कि साधु महात्मा के नाम-गोत्र के श्रवण मात्र से बहुत लाभ होता है, उनके सम्मुख जाकर वन्दन-नमन करने, सुखशाता पुछने तथा उनकी अनेक प्रकार से पर्युपासना करने में अत्यधिक लाभ है। यह उपदेश किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य कर नहीं दिया गया है, अतः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उपदेशक अपनी स्वयं की पूजा का अभिलाषी है। साथ ही हम यह भी नहीं कह सकते कि साधु के सम्मुख जाने आदि

में होने वाली जीव-विराधना के पाप का भागी वह उपदेशक बनता है।

उपदेशक का इरादा तो श्रोता के आत्मकल्याण का है न कि जीवविनाश का। श्री जिनेश्वर देव तो क्षीणमोही एवं वीतराग हैं। उन पर स्वयं की पूजा की अभिलाषा का आरोप लगाना पूर्णतया अज्ञानता ही है।

सर्वविरति द्वारा चौदह राजलोक के सर्व जीवों को अभयदान दिया जाता है। इसकी प्राप्ति हेतु एकेन्द्रिय जीवों की स्वरूपहिंसा वाली पूजा न्याययुक्त तथा अधिक लाभदायी है। इस पूजन द्वारा एकेन्द्रिय से बढ़कर द्विन्द्रिय आदि का वर्ग रक्षणीय है और परम्परा से एकेन्द्रिय वर्ग भी भक्ष्य है। पशुवध की पूजा में ऐसा नहीं है, क्योंकि पंचेन्द्रिय से बढ़कर किसी जीव का वर्ग है ही नहीं और अपने भले के नाम पर होने वाला पंचेन्द्रिय के वध वाला कार्य धर्मकार्य माना भी नहीं जा सकता, क्योंकि यह मानवता के भी विरुद्ध है।

अहिंसा से चारित्रावरणीय कर्म नष्ट होता है वैसे ही सर्वविरति के ध्येय से होने वाली पूजा भी चारित्रमोहनीयादि दुष्ट कर्म की प्रकृतियों का नाश करती है। दोनों से एक ही कार्य की सिद्धि होने से अहिंसा तथा श्री जिनपूजा उत्सर्ग-अपवाद रूप बन सकते हैं परन्तु स्वर्गादि समृद्धि के लिए पंचेन्द्रिय जीव का वध करके पूजन करने में हिंसा और परिग्रह दोनों पापों का पोषण होता है और इससे उत्सर्ग अपवादरूप नहीं बन सकता। प्राप्त किये हुए संयम के पालन के लिये नदी उतरने में लाभ होता हो तो अप्राप्त संयम की प्राप्ति के लिए देवपूजादि में प्रवृत्त होने वाले को लाभ क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा ही।

श्री जिनेश्वरदेव की पूजा के पीछे गुणप्राप्ति, वैराग्य, मार्गानुसारिता, दुःखक्षय और कर्मक्षय आदि आत्मकल्याणकर वस्तुओं का ही ध्येय है। ऐसे उत्तम ध्येय से पूजन करने वाला यदि हिंसा के फल को प्राप्त होता है तो फिर अहिंसा के फल को कौन प्राप्त कर सकता है? इसकी खोज करना असम्भव है। श्रावक यदि द्रव्यपूजन करता है तो अपने व्रत-नियमों का भंग करके तो नहीं करता।

श्री जिनेश्वर देव की पूजा में पशु आदि का अथवा अभक्ष्य पदार्थों का नैवेद्य नहीं रखा जाता और न अपेय वस्तुओं से प्रक्षालन करना होता है। बड़ा झूठ अथवा बडी चोरियाँ करके भी पूजा करने की नहीं होती। कम से कम देशविरति धर्म की भूमिका से नीचे गिराने वाला एक भी कार्य श्री जिनपूजा में करने का नहीं होता है।

सचित्त पानी, वायुवींझन, अग्निसमारम्भ, वनस्पतिभक्षण, कच्ची मिट्टी और कच्चा नमक जिसने छोड़ दिया हो उसको पूजा की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जो धन कमाने अथवा शरीर शुश्रूषादि के लिए दया के विचार से भी रहित है, अभक्ष्य एवं अनन्तकाय तक के पदार्थों का सेवन

जिसने नहीं छोड़ा, ऐसे लोग केवल जिनपूजा के लिए काम में लाये जाने वाले जल, पुष्प आदि की विराधना को ही जो बड़ा रूप दे देने में प्रयत्नशील हों तो समझना चाहिए कि वे मिथ्यात्व से ग्रस्त एवं भयंकर दुराग्रह से पीड़ित हैं।

पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि और प्रत्येक वनस्पति; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य, देवता और नरक वगैरह स्थानों में रहने वाले जितने भी जीव हैं इनसे भी अनन्तगुणे जीव सुई के अग्रभाग जितने, अनन्तकाय में हैं। इनका उपभोग करने में भी जिनको संकोच नहीं, ऐसे लोग पृथ्वी आदि के अनन्त भाग के जीवों से होने वाली स्वरूपहिंसा की बात को आगे कर श्री जिनपूजा जैसे परमोच्च कर्त्तव्य को धिक्कारते हैं, यह बात ही बताती है कि उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय तथा विवेकहीनता की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई है। किसी सती को अपने पति के साथ बात करते देखकर यदि कोई वेश्या उसकी हँसी करे अथवा तिरस्कार करे तो उसका यह कार्य जितना नासमझी का है, उतना ही अथवा इससे भी बढ़कर नासमझी का कार्य उन लोगों का है।

जिनपूजा से लाभों की परम्परा

श्री जिनेश्वरदेव के मनोहर मन्दिर, उनमें प्रतिष्ठत रमणीय प्रतिमाएँ तथा उनकी आनन्ददायक पूजा आदि देखकर लघुकर्मी भव्यात्माएँ सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणों को प्राप्त करने वाली बनती हैं तथा परम्परा से देशविरति, सर्वविरति आदि उच्च कक्षाओं को प्राप्त कर, सर्व-कर्म-रहित बनकर अनन्तकाल तक सभी जीवों को अभयदान देने वाली बनती हैं। इसीलिए सम्यग्दर्शनादि भाव धर्मों की प्राप्ति के साधनों को श्री जैनशासन ने परम उपकारक गिना है।

जगत् में दया दो प्रकार की हैं : एक द्रव्यदया व दूसरी भावदया। द्रव्यदया की अपेक्षा भावदया अनन्तगुनी श्रेष्ठ है। द्रव्यदया केवल द्रव्य-प्राणों के उद्देश्य से है तो भावदया भाव प्राणों के उद्देश्य से है। द्रव्य-प्राणों का जीवन अल्पकालीन होता है; भाव-प्राण अनन्तकाल तक रहते है। द्रव्य-प्राणों के धारणपोषण से होने वाला सुख थोड़ा और क्षणस्थायी होता है। भाव-प्राणों के आविर्भाव से होने वाला सुख निरवधि एवं चिरस्थायी है।

द्रव्यदया करने वाला केवल कुछ लोगों के कुछ दु:खों को कुछ समय के लिए दूर कर सकता है, जबकि भावदया करने वाला सभी जीवों के सर्वकाल के दु:खों को दूर करने वाला अर्थात् उनको सदा के लिए दु:खों से मुक्ति दिलाने वाला होता है। सम्यग्दर्शनादि भावगुणों की प्राप्ति के सिवाय मोक्षप्राप्ति के अन्य साधन भी जैसे सत्साधुसमागम, श्रीजिनवचन का श्रवण, सर्वविरतिमय शुद्ध जीवन का आचरण और परम्परागत अव्याबाध शाश्वत पद की

प्राप्ति आदि श्री जिनेश्वरदेव की पूजा और भक्ति आदि से अवश्य प्राप्त होते हैं।

श्री जिनपूजा में दानादि धर्मों की आराधना

श्री जिनेश्वरदेव की पूजा के समय पुण्यबन्ध रूप एवं कर्मक्षय रूप दोनों प्रकार के धर्मों की एक साथ आराधना होती है।

श्री जिनपूजा के समय अक्षतादि चढ़ाना दान धर्म है।

श्री जिनपूजा के समय विषय-विकार का त्याग करना शील धर्म है।

श्री जिनपूजा के समय अशन-पानादि का त्याग करना तप धर्म है।

पूजा के समय श्री जिनेश्वरदेव के गुणगान आदि करना भाव धर्म है।

श्री जिनपूजा से होने वाला कर्मक्षय

इसी प्रकार पूजन के समय - चैत्यवन्दनादि द्वारा गुणस्तुति आदि करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

प्रभुमूर्ति के दर्शनादि करने से दर्शनावरणीय कर्म का नाश होता है।

यतना और जीवदया की शुभ भावना से अशाता वेदनीय कर्म का क्षय होता है।

श्री अरिहन्त परमात्मा तथा श्री सिद्ध परमात्मा के गुणों के स्मरण से क्रमानुसार दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय होता है।

प्रभुपूजन के शुभ अध्यवसाय की तीव्रता से आयुष्य कर्म का क्षय होता है।

श्री जिनेश्वरदेव के नामादि लेने से नामकर्म का क्षय होता है।

श्री जिनेश्वरदेव का वन्दन-पूजन आदि करने से नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है तथा श्री जिनेश्वरदेव की पूजा में शक्ति, समय तथा अन्य द्रव्य का सदुपयोग करने से वीर्यान्तरायादि कर्म का क्षय होता है।

इस प्रकार जिनपूजा में पुण्यबंध, देश से या सर्व से कर्म-निर्जरा तथा परम्परा से शाश्वत सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति तक के सभी कार्य एक साथ सिद्ध होते हैं। श्री जिनपूजा जैसा आसान से आसान, बालक से लेकर वृद्ध तक सभी जिसे कर सकते हैं, ऐसा अनुपम लाभकारी अन्य कोई कार्य लोक-परलोक के मार्ग में दिखाई देना सम्भव नहीं है। उसके प्रति तनिक भी वक्रदृष्टि धारण करना अपने कल्याण के प्रति वक्रदृष्टि धारण करने के समान है। अपने तथा औरों के कल्याण के अभिलाषी लोगों को श्री जिनपूजादि अनुष्ठान में स्वयं सम्मिलित होकर अन्य को सम्मिलित करना तथा अपने-पराये का पारमार्थिक कल्याण साधना, यही सच्ची उन्नति का उत्तम मार्ग है।

7

प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मूर्तिपूजा का स्वीकार

समस्त विश्व मूर्तिमान् पदार्थों का समूह है। जितना प्राचीन विश्व है उतनी ही प्राचीन मूर्ति, आकार तथा उनकी पूजा आदि है। जैन सिद्धान्त के अनुसार समस्त लोक षड्द्रव्यों से भरा हुआ है। इन छह द्रव्यों में पाँच अमूर्त हैं व एक मूर्त। इन अमूर्त द्रव्यों का भी कोई आकार विशेष माना गया है। यावत् अलोकाकाश अथवा जहाँ केवल एक आकाश द्रव्य ही है उसको भी गोले जैसा आकार वाला माना गया है।

जैसे अमूर्त द्रव्यों का आकार माना है वैसे ही अमूर्त द्रव्यों के ज्ञान को भी आकारयुक्त माना गया है। अमूर्त द्रव्यों की जानकारी भी मूर्त द्रव्यों द्वारा ही होती है। इस प्रकार आकार एवं मूर्ति को मानने का इतिहास किसी काल विशेष का नहीं पर विश्व के अस्तित्व तक के सर्वकाल के लिये सर्जित है।

मूर्ति का विश्वव्यापक सिद्धान्त

मूर्ति, आकृति, प्रतिमा, प्रतिबिंब, आकार, प्लान, नक्शा, चित्र, फोटो - ये सभी एक ही अर्थ के सूचक शब्द हैं। किसी न किसी प्रकार से इन आकारों को आदर दिये बिना किसी का काम नहीं चलता। एक बालक से लगाकर बड़े ज्ञानी तक सभी को अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम मूर्ति की ही आवश्यकता होती है। धार्मिक, व्यावहारिक अथवा वैज्ञानिक, किसी भी क्षेत्र में मूर्ति के आकार को माने बिना काम नहीं चलता। मूर्ति एवं आकार को मानने का सिद्धान्त विश्वव्यापक है।

सुवर्ण और उसमें रहने वाले पीलेपन को तथा रत्न और उसमें बसी हुई कान्ति को जिस प्रकार कभी अलग नहीं किया जा सकता वैसे ही विश्व से उसके आकार की मूर्ति को भी पृथक् नहीं किया जा सकता। समस्त विश्व की प्रकृति ही इस तरह मूर्ति एवं आकार को धारण करने वाली है। ऐसी दशा में मूर्ति को नहीं मानना एक प्रकार से विश्व की प्रकृति का ही खून करने के बराबर है।

मुमुक्षुमात्र का अन्तिम ध्येय जन्म, जरा और मरण आदि दुःखों का अन्त कर अक्षय

सुख प्राप्त करना है। इस महान् कार्य की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता श्रेष्ठ साधनों को प्राप्त करने की है। चंचल चित्त, उच्छृंखल इन्द्रियाँ, विषम विषयों एवं कटु कषायों पर विजय प्राप्त हो सके, ऐसा उत्तम साधन शुक्लध्यानावस्थित और शान्त मुद्रायुक्त श्री जिनेश्वर प्रभु की मनोहर प्रतिमा से बढ़कर दूसरा कोई भी नहीं है; भले ही वह मूर्ति फिर पत्थर लकड़ी, धातु, मिट्टी, रेती या किसी भी पदार्थ की बनी हो।

ईश्वर की उपासना यदि धर्म का एक मुख्य अंग है तो उसकी सिद्धि के लिए मूर्ति की आवश्यकता से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। किसी भी निराकार वस्तु की उपासना मूर्ति के अभाव में असम्भव है, इसको सभी धर्मावलम्बी मानते हैं। अत: ईश्वर के प्रति श्रद्धा, भक्ति तथा उसके अस्तित्व का विश्वास बनाये रखने के लिए मूर्तिपूजा की परम आवश्यकता है।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे, यह सम्भव है ''ईश्वर की उपासना हेतु जड़ मूर्ति का आलम्बन लेने की अपेक्षा उनके स्वयं के गुणों का आलम्बन लेना क्या बुरा है?''

इसका समाधान है कि ईश्वर जिस प्रकार निराकार है उसी प्रकार ईश्वर के गुण भी निराकार हैं। ईश्वर तथा उसके गुणों का जब कोई आकार नहीं तो अल्पबुद्धि जीव उसकी उपासना किस प्रकार कर सकते हैं? अल्पज्ञ जीवों को उपासना में लीन करने के लिए साकार इंद्रियगोचर तथा दृश्य पदार्थों की आवश्यकता रहेगी ही।

यदि कोई ऐसा कहे - हम ईश्वर अथवा ईश्वर के निराकार गुणों की अपने मनमंदिर में मानसिक कल्पना द्वारा उपासना कर लेंगे, ऐसी स्थिति में पाषाणीय मंदिर/मूर्ति की क्या आवश्यकता है? पर ऐसा कहना भी अज्ञानता ही है। मनोमंदिर में निराकार ईश्वर की कल्पना भी साकार ही बनने वाली है, जैसे कि अष्ट महाप्रातिहार्य से विभूषित, केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय से युक्त समवसरण में विराजमान भगवान जिनेश्वर महाराज की धर्मदेशना समय की अवस्था। इस अवस्था की कल्पना निराकार नहीं, साकार है।

मंदिर और मूर्ति के मानने वाले भी इस कल्पना को ही मूर्त स्वरूप प्रदान करके उपासना करते हैं। कल्पना करके अथवा साक्षात् मूर्ति बनाकर उपासना करना, दोनों का ध्येय एक ही है। इतना अन्तर है कि काल्पनिक मनोमंदिर क्षणस्थायी है जब कि साक्षात् मंदिर तथा मूर्ति चिरस्थायी है। सर्वश्रेष्ठ तो यह है कि चिरस्थायी दृश्य मंदिरों में जाकर भगवान की शान्त मुद्रायुक्त मूर्ति की भावपूर्वक पूजा अर्चना करके आत्मकल्याण करना, पर क्षणविध्वंसी काल्पनिक और अदृश्य मूर्ति मात्र से संतोष नहीं मान लेना क्योंकि ऐसे संतोष में स्पष्ट रूप से भक्ति की कमी रहती है।

मूर्ति का श्रेष्ठ आलम्बन

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जितनी प्राचीनता संसार के इतिहास की है, उतनी ही प्राचीनता मूर्तिपूजा की है। इसीलिये विश्व के इतिहास के साथ ही संसारी जीवों के कल्याणार्थ परम आवश्यक मूर्तिपूजा का इतिहास भी प्राप्त होता है। जीवों के कल्याण और मूर्तिपूजा, दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। परम पुरुषों की मूर्तियों के शुभ आलम्बन से संसारी आत्माओं की पापवासना मंद पड़ती है। विषय-कषाय का वेग घटता है। आरम्भ-परिग्रह के त्याग की भावना का जन्म होता है, सन्मार्ग की ओर अग्रसरता स्थायी बनती है और सदा उच्च गुणों का आदर्श मिलता रहता है।

मूर्तिपूजा का विरोध उत्पन्न होने का कारण

मूर्तिपूजा प्राचीन तथा कल्याणकारी होने पर भी उसका विरोध कब से, किसके द्वारा और किस कारण से हुआ, इसका इतिहास भी जानना आवश्यक है। विश्वस्त तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि विक्रम की 7 वीं शताब्दी पूर्व समस्त संसार मूर्तिपूजा का उपासक था। सर्वप्रथम लगभग 1300 से 1400 वर्ष पूर्व मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज पैगम्बर मुहम्मद ने अरबिस्तान में उठाई थी क्योंकि उस देश में मूर्तिपूजा के नाम पर अत्याचार बहुत बढ़ गये थे। सिर के बाल बढ़ जाने से सिर को ही काट डालने की क्रिया जितनी अव्यावहारिक है उतना ही अव्यावहारिक था अत्याचार का विरोध करने के बजाय मूर्तिपूजा का विरोध करना। पैगम्बर मुहम्मद ने यह विरोध किसी भी प्रमाण के आधार पर नहीं पर तलवार के बल पर किया।

केवल आर्य प्रजा में ही नहीं पर पाश्चात्य देशों में भी मूर्तिपूजा का बहुत प्रचार था, ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। आस्ट्रेलिया में भगवान महावीर की मूर्ति, अमेरिका में ताम्रमय सिद्धचक्र का गट्टा, मंगोलिया में अनेक भग्न मूर्तियों के अवशेष तथा मक्का-मदीना में जैन मन्दिर (जो हाल ही में वहाँ से बदल दिया गया है) आदि मूर्तिपूजा के प्रमाण हैं। **व्यक्तिगत रूप से कोई मूर्तिपूजा को नहीं माने, यह अलग बात है परन्तु देशाटन करने वालों की जानकारी से यह बात छिपी हुई नहीं है कि आज भी जगत् में ऐसा प्रदेश खोजने पर भी नहीं मिल सकता जहाँ मूर्तिपूजा का प्रचार न हो।**

मुस्लिम मत की उत्पत्ति के बाद मुसलमानों ने भारतवर्ष पर कई आक्रमण किये और धर्मान्धता के कारण इस देश के आदर्श मन्दिर-मूर्तियों को तथा शिल्प-कलाओं को नष्ट-भ्रष्ट किया। फिर भी 15 वीं शताब्दी तक आर्य प्रजा पर मुस्लिम संस्कृति का थोड़ा भी प्रभाव नहीं पड़ा।

विक्रम की 13 वीं शताब्दी में दिल्ली पर मुस्लिम सत्ता का शासन हुआ। सत्ता के मद में आकर वे अनेद मन्दिरों एवं अज्ञानी लोगों को हिन्दू धर्म से भ्रष्ट करने लगे फिर भी उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली। थोड़े बहुत जो विधर्मी बने वे भी अधिकांश स्वार्थी और धर्म से अनभिज्ञ लोग थे। ऐसी विकट स्थिति में भी भारतीय धर्मवीरों पर अनार्थ संस्कृति का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा।

विक्रम की 14 वीं सदी में दिल्ली, मालवा और गुजरात की भूमि पर मुस्लिमों की सत्ता का आधिपत्य हुआ और उन्होंने वहाँ की शिल्पकला और मन्दिरों का नाश किया, विधर्मी नहीं बनने वालों की सम्पत्ति को लूटा तथा उन्हें प्राण-दण्ड दिया। तब तक भी धर्मवीरों पर अनार्य संस्कृति का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा और इसके विपरीत, प्रतिस्पर्धा के कारण धर्म एवं मूर्तिपूजा का विश्वास और भक्तिभाव बढ़ता ही गया।

शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि ऐसी विकट परिस्थिति के समय में भी पुराने मन्दिरों के नाश की अपेक्षा नये मन्दिर अधिक संख्या में बनें। उदाहरणस्वरूप वि.सं. 1396 में मुसलमानों ने शत्रुंजय के सभी मन्दिरों का नाश किया और 1371 में श्रेष्ठी समरसिंह ने करोड़ों का द्रव्य खर्च करके पुनः शत्रुंजय पर स्वर्गविमान समान मन्दिरों का निर्माण करवा लिया।

विक्रम की 16 वीं सदी भारतवर्ष के लिए महादु:ख एवं भयंकर कलंक रूप साबित हुई। अनार्य संस्कृति का दोषपूर्ण प्रभाव अनेक व्यक्तियों पर पड़ चुका था तथा अनेक अज्ञानी व्यक्तियों ने अनार्य संस्कृति का अन्धानुकरण कर बिना कुछ सोचे समझे आर्य मन्दिर एवं मूर्तियों की ओर क्रूर दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया था।

श्वेताम्बर जैनों में लोकाशा, दिगम्बर जैनों में तारणस्वामी, सिक्खों में गुरु नानक, जुलाहों में कबीर, वैष्णवों में रामचरण तथा अंग्रेजों में मार्टिन लूथर आदि लोगों ने बिना सोचे-समझे संस्कृति के आधार-स्तम्भ रूप मन्दिर और मूर्तियों के विरुद्ध आवाज उठाना शूरु कर दिया था। 'ईश्वर की उपासना के लिये जड़ पदार्थों की कोई आवश्यकता नहीं है', ऐसा कहकर मूर्तियों द्वारा अपने इष्ट देवों की उपासना करने वालों को उन्होंने आत्मकल्याण के मार्ग से हटा दिया था।

श्वेताम्बर जैनों का लोंकाशा के साथ सम्बन्ध है। लोंकाशा के जीवन में विषय में भिन्न-भिन्न लेखकों के अलग-अलग उल्लेख मिलते हैं परन्तु लोंकाशा का जैन साधु के द्वारा अपमान हुआ, इस विषय में सभी एकमत हैं। एक ओर उसका अपमान तथा दूसरी ओर मुसलमानों का सहयोग, लोंकाशा को कर्तव्यच्युत करने वाला सिद्ध हुआ।

वि. सं. 1544 के आसपास हुए उपाध्याय श्री कमलसंयमी 'सिद्धान्तचौपाई' में लिखते है कि फिरोजखान नामका बादशाह मन्दिरों और पौषधशालाओं को ध्वंस कर

जिनमत को कष्ट पहुँचाता था। दुषमकाल के प्रभाव से बुखार के साथ सिरदर्द की तरह, लोंकाशा को उसका सहयोग मिल गया।

आवेश में अन्धा इन्सान क्या-क्या कुकर्म नहीं करता! इस विषय में जमालि और गोशाला के दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। क्रोधावेश में आया लोंकाशा मुसलमान सैयदों के वचनों पर विश्वास कर अपने धर्म से च्युत हुआ। इससे पूर्व लोंकाशा त्रिकाल श्रीजिनपूजा करता था, ऐसा उल्लेख मिलता है। पर साधुओं द्वारा अपमानित होने के वाद अग्नि में घी की भाँति उसे सैयदों का संयोग मिल गया तथा सैयदों ने उससे मन्दिर और मूर्ति छुड़वा दी। तब से वह पूजनकार्य को निरर्थक मानने लगा। सैयदों ने उसको कहा - ''ईश्वर तो मुक्ति में है तथा गन्दगी से दूर है तो इसके लिये मूर्तियों की, मन्दिरों की तथा स्नान-विलेपन की क्या जरूरत है?'' लोंकाशा को यह बात पूर्ण सत्य लगी।

मिथ्यात्व के उदय से ऐसी झूठी बातें भी कई बार हृदय में इस प्रकार घर कर जाती हैं कि उसके सम्मुख फिर अनेक युक्तियाँ, आगम अथवा इतिहास आदि के प्रमाण भी रखने में आवें तो भी वे निकल नहीं पातीं और इसी कारण अनेक नये निकलने वाले पंथों और मतों की तरह लोंकाशा ने भी अपना मत खड़ा कर दिया।

लोंकाशा ने केवल मूर्तिपूजा का ही विरोध नही किया पर जैन आगम, जैन संस्कृति, सामायिक, प्रतिक्रमण, दान, देवपूजा तथा प्रत्याख्यान आदि का भी विरोध किया। अन्तिम अवस्था में इसे अपने दुष्कृत्यों का पश्चाताप भी हुआ। इसका प्रमाण यह है कि उसने सामायिक-पौषध-प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को आदरसूचक स्थान दिया और बाद में दान देने की भी छूट दी। इसके पश्चात् मेघजी ऋषि आदि ने इस मत का सदंतर त्याग कर पुन: जैनदीक्षा को स्वीकार किया है तथा वह मूर्तिपूजा के समर्थक एवं प्रचारक वने। लोंकागच्छीय आचार्यों ने मन्दिरों तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई तथा अपने-अपने उपाश्रय में भी प्रतिमाओं की स्थापना कर मूर्तियों की उपासना की है।

लोंकागच्छ का एक भी उपाश्रय ऐसा नहीं था जहाँ श्री वीतराग प्रभु की मूर्ति न हो। परन्तु विक्रम की 18 वीं सदी में यति धर्मसिंह और लवजी ऋषि-दोनों ने लोंकागच्छ से अलग होकर पुन: मूर्ति के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया। लोंकागच्छ के श्रीपूज्यों ने दोनों को गच्छ से बाहर कर दिया, परन्तु उन दोनों के द्वारा प्रचारित मत चल पड़ा। इस नये मत को ''ढूँढक मत'' का उपनाम मिला। इस सम्प्रदाय का दूसरा नाम ''साधुमार्गी'' अथवा ''स्थानकवासी'' पड़ा। इन ढूंढियों और लोंकाशा के अनुयायियों में क्रिया और श्रद्धा में दिन-रात जैसा अन्तर है। स्थानकमार्गी यानी ढूंढक लवजी ऋषि के अनुयायी हैं।

स्थानकवासी समाज की उत्पत्ति का यह संक्षिप्त इतिहास है। आज उनमें से भी वहुतों ने मूर्तिपूजा की आवश्यकता और हितकारिता को स्वीकार किया है।

इस प्रकार मूर्तिपूजा का अस्तित्व सनातन काल का है। सभी सुविहित आचार्यों ने इस विधान को आदर देकर जैनसमाज पर बड़ा उपकार किया है।

मूर्तिपूजा के विरोधी भी मूर्तिपूजा को मानते हैं -

मूर्तिपूजा का सर्वप्रथम विरोधी मुहम्मद है परन्तु उसके अनुयायी भी अपनी मस्जिदों में पीरों की आकृतियाँ बनाकर पुष्पधूपादि से पूजते हैं, ताजिया बनाकर उसके आगे रोना-पीटना करते हैं तथा यात्रा के लिए मक्का-मदीना जाकर वहाँ एक काले पत्थर का चुम्बन करते हैं तथा ऐसा मानते हैं कि इससे पाप नष्ट होते हैं।

मूर्तिपूजा नहीं मानने वाले ईसाई सूली पर लटकती ईसामसीह की मूर्ति और क्रॉस स्थापित कर अपने चर्च में उसे पूज्यभाव से देखते हैं, द्रव्यभाव से पूजा करते हैं तथा पुष्पहार चढ़ाते हैं।

कबीर, नानक, रामचरण आदि मूर्ति विरोधियों के अनुयायी अपने-अपने पूज्य पुरुषों की समाधियाँ बनाकर पूजते हैं। समाधियों के दर्शनार्थ भक्त लोग दूर-दूर से आते हैं तथा पुष्पादि पदार्थ चढ़ा कर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं।

स्थानकवासी वर्ग अपने पूज्यों की समाधि, पादुका, चित्र आदि बनाकर उपासना करते हैं, दर्शन हेतु दूर-दूर से आते हैं तथा दर्शन कर अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

कोई भी पंथ, मत, सम्प्रदाय, जाति, धर्म तथा व्यक्ति मूर्तिपूजा से वंचित नहीं है। मूर्जिपूजकों ने संसार का जितना उपकार किया है, विरोधियों ने उतना ही अपकार किया है। मूर्ति आत्मकल्याणकारक होकर संसार के सभी जीवों की सच्ची उन्नति का साधन है। इसका विरोध आत्म-अहित का तथा विश्व भर के अध:पतन का प्रमुख कारण है।

हे परमात्मा!
मुझे अन्य कोई चाह नहीं है। आपकी भक्ति के फलस्वरूप मुझे ये तीन वस्तुएँ प्राप्त हों -

(१) सहस समाधिमरण
(२) दीनतारहित जीवन और
(३) मृत्यु के समय आपका सान्निध्य

8

तीर्थंकरों का परोपकारमय जीवन

नामकृतिद्रव्यभावैः, पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मि - न्नर्हतः समुपास्महे ।।१।।

इस सुन्दर पद्य में परम उपकारी, कलिकालसर्वज्ञ, आचार्य भगवान् श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा फरमाते हैं कि -

''सभी कालों में तथा सभी क्षेत्रों में नाम, आकृति, द्रव्य और भाव - इन चारों स्वरूपों द्वारा तीनों जगत् के लोगों को पवित्र करने वाले श्री अरिहन्तों की हम उपासना करते हैं।''

उपर्युक्त पद्य से यह भाव निकलता है कि अरिहन्त परमात्मा की मूर्तियाँ और उनकी पूजा आजकल ही नहीं परन्तु सदा की हैं। श्री अरिहन्तों के चार निक्षेप उपास्य हैं। इन चार में से एक भी निक्षेप की उपेक्षा सम्यक्त्व की प्राप्ति में बाधक तथा प्राप्त सम्यक्त्व का नाश करने वाली है।

कोई भी काल ऐसा नहीं कि जिसमें मूर्तिपूजा का अस्तित्व न हो तथा कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं कि जिसमें श्री अरिहन्त देवों की मूर्तियाँ उनके उपासकों को पवित्र न करती हों। मूर्तिपूजा आत्मकल्याण का प्रारम्भिक अंग है। अधिकार एवं योग्यता के अनुसार साधुओं की भाँति श्रावकों के लिए भी श्री अरिहन्त परमात्माओं की भावपूजा तथा द्रव्यपूजा निरन्तर आवश्यक है। इसका पालन नहीं करने वाले साधु तथा श्रावक को शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त का भागीदार बताया है।

जहाँ तीर्थ है वहाँ पूजा होती है

भरत और ऐरवत क्षेत्र में प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में एक-एक चौबीसी होती है। हर चौबीसी में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं। ऐसी अनन्त चौबीसी अतीत में हो गई और भविष्य में होगी। महाविदेह क्षेत्र में तो श्री तीर्थंकरों का विरह ही नहीं है। अतः जब-जब और जहाँ-जहाँ उन परमोपकारी तीर्थपतियों का तारक तीर्थ प्रवर्तमान होता

है, तब-तब उन-उन स्थानों पर श्री जिनमन्दिरों और श्री जिन मूर्तियों तथा उनकी उपासना का अस्तित्व स्थायी रूप से होता है। इसका कारण यह है कि श्री जिनेश्वरदेवों के पवित्र मार्ग में श्री जिनेश्वर देवों की पूजा के सम्यक्त्वशुद्धि का एक परम अंग और आत्मोन्नति का एक अद्वितीय साधन माना गया है।

श्री तीर्थंकर देवों का जगत् पर असीम उपकार है, समस्त विश्व का हित करने की सर्वोत्तम भावना में से श्री तीर्थंकर पद का जन्म हुआ है। इसीलिए उन्होंने अनेक भवों से शुभ प्रयत्न कर तीसरे भव में जिन नामकर्म की निकाचना की होती है। अन्तिम भव में वे विश्ववन्द्य पुण्य कर्म का उपयोग करते समय विश्व के समस्त प्राणियों के लिए हितकारी धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं।

इस तीर्थ के प्रभाव से समस्त धर्म-कर्म की सुव्यवस्था विश्व में चालू रहती है। संसार-सागर से भव्य आत्माओं को तारने के लिए ये तीर्थ समर्थ होते है। महासत्त्वशाली प्राज्ञ पुरुषों का यह आश्रयस्थान होता है। यह तीर्थ अविसंवादी और अचिन्त्य शक्तियुक्त है और उसका जो कोई आश्रय लेता है उसे वह भयानक भवसागर से तारने में समर्थ है। द्वादशांगी, उसका आधार चतुर्विध श्रीसंघ और उसके आद्य रचयिता श्री गणधरदेव, ये तीनों तीर्थ कहलाते है। इन तीर्थों के आद्य प्रकाशक एवं आद्य स्थापक श्री तीर्थङ्करदेव तथा उनके जीवन की विशिष्टता है।

वास्तव में तो श्री तीर्थङ्कर देवों का सर्वोच्च जीवन ही जैनधर्म की महान् सम्पत्ति है। जैनधर्म की शाश्वतता की यदि कोई मजबूत जड़ है, तो वह भी यही है। कभी सर्वनाश जैसी स्थिति भी आ जाय तो भी श्री तीर्थंकरदेवों के सर्वोच्च जीवन का आदर्श, जब तक जगत् में विद्यमान हैं, तब तक पुनः धर्मजागृति आते देर नहीं लगती। जैनधर्म की सर्वोपरिता और दृढ़मूलता होने का मुख्य कारण श्री तीर्थंकरदेवों का सर्वोच्च जीवन ही है। इसी कारण सभी जैन अपनी सभी प्रवृत्तियों में श्री तीर्थंकरदेवों के जीवन को ही ऊँचा स्थान देते हैं।

श्री तीर्थंकरों की पूज्यता उनकी विद्वत्ता, राज्यसत्ता अथवा रूप-रंगादि के कारण नहीं है परन्तु उनके तीर्थंकरपने के कारण है और इसलिए जैन-शास्त्रकारों ने श्री तीर्थंकरों की लग्न, राज्य व युद्धलीला अथवा क्रीड़ा आदि की घटनाओं को उपादेय के रूप में आगे नहीं रक्खा परन्तु च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य तथा मोक्ष अवस्थाओं को आगे रखकर ही उनकी उपासना की है।

जगत् में एक से बढ़कर एक दूसरा मनुष्य मिल ही जाता है। कोई रूप में, कोई गुण में, कोई जाति में अथवा कुल में, कोई बुद्धि अथवा शास्त्र में, कोई कला अथवा कौशल में, कोई ऋद्धि अथवा समृद्धि में तथा कोई लाभ अथवा ख्याति में - इन सबके मद आदि को उतारने वाला श्री तीर्थंकर

देवों का जीवन ही है। क्रोध, रोष, ईर्ष्या अथवा सहिष्णुता, माया अथवा दम्भ, अनीति अथवा अनाचारादि दोषों को रोकने की इस जगत् में सत्य प्रेरणा यदि किसी भी स्थान से प्राप्त हो सकती है तो वह भी श्री तीर्थंकरदेवों के आदर्श जीवन से ही प्राप्त हो सकती है। श्री तीर्थंकर देवों का आदर्श जीवन दूसरों में रहने वाले सभी दोषों और विकारों को प्रकट में लाता है तथा योग्य आत्माओं में उन दोषों को बढ़ने से रोकता है तथा उनका नाश भी कर देता है।

इस जगत् में जो कोई अच्छाई, उज्ज्वलता अथवा पवित्रता आदि दिखाई देती है, वह सब प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से तीर्थंकरदेवों के अति उज्ज्वल तथा पवित्र जीवन का ही प्रभाव है। उन उद्धारकों के जीवन की भव्यता असंख्य आत्माओं को अपने विकासस्थान से आगे बढ़ने में अनायास रूप से एक सबल निमित्त रूप सिद्ध हुए बिना नहीं रहती।

सभी जीवों के विकास में समान रूप से उपकारक श्री तीर्थंकरदेवों का उपकार स्मृतिपट पर ताजा बना रहे तथा उसका विस्मरण न हो, इस कारण उनकी उपस्थिति एवं अनुपस्थिति में उनकी प्रतिमा तथा मन्दिरों द्वारा भक्ति करने की प्रथा विवेकी वर्ग में हमेशा होती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

संसार पर किये हुए उनके उपकार बुद्धिशाली आत्माओं को सहज रूप से वैसा करने की प्रेरणा देते हैं। इस उपकार को समझने वाले उनकी प्रतिमा के दर्शन किये बिना अन्न या जल भी नहीं लेते। पूरे दिन यदि दर्शन नहीं हो तो उपवास करते हैं। हमेशा त्रिकाल-दर्शन तथा सात बार चैत्यवन्दन अवश्य करने की प्रतिज्ञा धारण करते हैं। श्री तीर्थंकरों के प्रति इस महान् पूज्यभावना के परिणामस्वरूप स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े मन्दिर स्थापित होते हैं और उनमें बहुत सी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती हैं। बड़े शहर, कल्याणक-स्थलों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण व सामान्य स्थलों में, अनेक मन्दिर एवं प्रतिमाएँ अस्तित्व में आती हैं। विवेकी आत्माएँ सदा ऐसे सुन्दर अवसर की हार्दिक कामना करती हैं कि सारी पृथ्वी श्री जिनमन्दिरों से सुसज्जित हो।

आधुनिक संस्कृति के पुजारी को दुनिया में हर स्थान और हर गाँव में हाई स्कूल, हॉस्पिटल अथवा पोस्ट ऑफिस आदि स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा होती है। इससे भी अनेक गुणी महत्त्वाकांक्षा श्री तीर्थंकरदेवों के सर्वोच्च गुणों को पहचानने वाली आत्माओं के दिल में मन्दिरों एवं मूर्तियों की सर्वत्र प्रतिष्ठा करने की होती है।

तीर्थंकरों के दर्शन से कोई वंचित न रह जाय, इस उद्देश्य से बड़े-बड़े तीर्थ बनवाये जाते हैं, बड़े-बड़े यात्रागमन, समारम्भ, चैत्य, रथोत्सव, महापूजा और ऐसी अन्य कई उत्साहजनक प्रवृत्तियाँ करने में आती हैं और ऐसा करके अपना तथा प्रजा का तीर्थंकरों की

तरफ के सम्मान का भाव जागृत करने तथा निरन्तर चालू रखने के प्रयत्न किये जाते हैं।

श्री तीर्थंकरों के गुणों के जानने वाले ऐसा किये बिना रह ही नहीं सकते। कैसी भी प्रवृत्ति में पड़ा हुआ व्यक्ति भी इन वाद्ययंत्रों की आवाज से सिर ऊँचा उठाए बिना रह नहीं सकता। जाने-अनजाने भी आत्मिक उन्नति के योग्य बीजारोपण उसकी आत्मा में पड़ जाते हैं। वे बीज पत्तों के रुप में बदल कर भविष्य में बड़ा रूप धारण कर लेते हैं।

श्री जिनमन्दिर की प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तथा उनकी पूजा के महोत्सव आत्मोन्नति एवं आत्मविकास के अनन्य साधन है, धार्मिक जीवन के लक्ष्यबिंदु हैं तथा त्रैकालिक उत्तमोत्तम कर्तव्य हैं। क्यों कि छोटी-बड़ी धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में वहीं से उत्पन्न होती हैं। श्री जिनमन्दिरों की महिमा का वर्णन करते हुए एक विद्वान ने ठीक ही कहा है - ''श्री जिनमन्दिर विकासमार्ग से विमुख प्राणियों को इस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए अगम्य उपदेश देने वाले मूल्यवान ग्रन्थ हैं। पथभ्रष्ट भवाटवी के पथिकों को राह बताने के लिए प्रकाशस्तम्भ हैं, आधि, व्याधि व उपाधि के त्रिविध ताप से जली हुई आत्माओं को विश्राम के लिए आश्रयस्थान हैं। कर्म तथा मोह के आक्रमण से व्यथित हृदयों को आराम देने के लिए संगेहिणी औषधि हैं। आपत्ति रुपी पहाड़ी-पर्वतों में घटादार छायादार वृक्ष हैं। संसाररूपी खारे सागर में मीठे झरने हैं। सन्तों के जीवन-प्राण हैं। दुर्जनों के लिए अमोघ शासन हैं। अतीत की पवित्र स्मृति हैं। वर्तमान के आत्मिक विलास भवन हैं। भविष्य का भोजन हैं। स्वर्ग की सीढ़ी हैं। मोक्ष के स्तम्भ हैं। नरक-मार्ग में दुर्गम पहाड़ है तथा तिर्यंचगति के द्वारों के विरुद्ध शक्तिशाली अर्गला हैं।''

जिनेश्वर परमात्मा के गुणगान करने से पाप का नाश एवं पुण्य की वृद्धि तथा दोषों का क्षय एवं गुणों की प्राप्ति होती है।

卐

परमात्म-भक्ति से उपसर्ग नष्ट हो जाते हैं, विघ्न की लताएँ समाप्त हो जाती हैं और मन प्रसन्नता से भर जाता है।

卐

वासनाओं के नाश का एक मात्र उपाय निर्विकार परमात्मा की शरणागति है।

9

प्रतिमा-पूजन की शाश्वतता

महान् उपकारी विश्ववन्द्य श्री वीतरागदेव की निर्विकार, शान्त, ध्यानावस्थित मुद्रा जगत्पूज्य है, सभी दु:खों का नाश करने वाली है तथा सभी सुखों की प्राप्ति का परम साधन है। फिर भी इस जगत् में उसी का विरोध करने वाला, उसके आगे जैसे-तैसे बाधा खड़ी करने वाला और पूजा के मूल को उखाड़ने में ही अपने जन्म की सार्थकता समझने वाला वर्ग भी है, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि - इस जगत् में ज्ञानी जितना उपकार कर सकता है उसकी अपेक्षा अज्ञानी अधिक अपकार कर सकता है। अज्ञान एक भयंकर वस्तु है। अज्ञान के कारण इस जगत् में जितने अनर्थ होते हैं उतने हिंसा आदि क्रूर पापकर्मों से भी नहीं हो सकते। सारे जगत् पर अज्ञान का साम्राज्य छाया हुआ है। इसकी छाया तले रहने वाली आत्मा जिन प्रतिमा और उसकी पूजा का विरोध करे, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

जगत् में ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान अधिक है, सयुक्तियों की तुलना में कुयुक्तियों की मात्रा अधिक है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और निराग्रही आत्माओं से मिथ्यादृष्टि एवं दुराग्रही आत्माएँ अधिक हैं, यह बात श्री जिनप्रतिमा और उसकी पूजा के विरोधी प्रचारकार्य से प्रत्यक्ष प्रकट होती है। श्री जिनप्रतिमा उसकी पूजा करने वालों को प्रत्यक्ष रूप से अनेक लाभ देती रही है तथा सर्वसिद्धान्तवेदी सज्जन पुरुषों ने अपने अन्त:करण से उसका समर्थन किया है फिर भी अज्ञान कुवासनाग्रस्त तथा आग्रह के कारण मतान्ध बने लोग उसका खण्डन करने में कुछ भी बाकी नहीं रखते।

प्रतिमा और उसकी पूजा के निषेधकों के मुख्य तर्क दो हैं। एक तो यह कि प्रतिमा जड़ हैं तथा दूसरी यह कि पूजा में हिंसा निहित है। इन दोनों तर्कों का सुयुक्तिपूर्ण एवं हृदयंगम जवाब इस पुस्तक में दी गई प्रश्नोत्तरी में मिल जायेगा।

आगम मानने वालों को पंचांगी भी मान्य करनी चाहिए

प्रतिमा को नहीं मानने वाला 'स्थानकवासी' वर्ग भी किसी रूप में आगम में तो विश्वास करता ही है। प्रतिमा वीतराग के रूपी आकार की स्थापना है। परन्तु आगम तो श्री वीतराग के अरूपी ज्ञान की अक्षरश: स्थापना है। श्री वीतराग के साक्षात् आकार की स्थापना को नहीं मानने की हिम्मत करने वाले भी श्री वीतराग के अरूपी ज्ञान के

अक्षराकार-स्थापनास्वरूप आगम को नहीं मानने का साहस नहीं करते। यह बात भी स्थापना के अप्रतिहत प्रभाव को सूचित करती है।

स्थानकवासी वर्ग पैंतालीस आगमों में से स्वयं को इष्ट बत्तीस आगम और वे भी मूल मात्र ही मानता है। इन बत्तीस आगमों में भी स्थापनानिक्षेप की कितनी प्रबल व्यापकता रही हुई है, यह समझाने के लिए परोपकारी शास्त्रकार महर्षियों ने कम प्रयास नहीं किया है। श्री जिनेश्वरदेव का धर्म श्री जिनेश्वरदेव की आज्ञा के पालन में है, न कि कल्पित दया के कल्पित प्रकार के पालन में।

जहाँ दया, वहाँ जिनधर्म; ऐसी व्याख्या यदि निरपेक्ष है तो वह अधूरी और असत्य है। जहाँ श्री जिन की आज्ञा वहाँ श्री जिन धर्म, यह सम्पूर्ण और सच्ची व्याख्या है। श्री वीतराग की आज्ञा आगमों में निबद्ध है और आगमों का अर्थ पंचांगीयुक्त शास्त्रों में गुँथा हुआ है। सूत्र, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीकायें पंचांगी है। इनमें से एक भी अंग को नहीं मानने वाले वस्तुतः आगमों को ही अमान्य ठहराने वाले हैं। सूत्र के रचयिता श्री गणधर भगवन्त है तथा अर्थ बताने वाले श्री अरिहन्तदेव हैं। श्री गणधर भगवन्त के वचनों को मान्य रखना और श्री अरिहन्त भगवन्त के कथन की उपेक्षा करना बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है।

सूत्र केवल सूचना रूप होते हैं। सूत्रों द्वारा दी गई सूचना जिसमें विस्तार से कही गई है, उन्हीं को निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि आदि माना गया है। उनके रचनाकार श्रुतकेवली, पूर्वधर तथा अन्य बहुश्रुत भवभीरु महर्षि है। वे असाधारण गीतार्थ, विद्वान् और पण्डित है। उनके वचनों को मानना बुद्धि की सार्थकता है।

प्रतिमा की वन्दनीयता के प्रमाण

प्रतिमा-निषेधकों के माने हुए बत्तीस सूत्र अथवा आगमों के नाम निम्नानुसार हैं :-

ग्यारह अंग, बारह उपांग, नंदी, अनुयोग, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध।

इन बत्तीस सूत्रों में भी स्थान-स्थान पर स्थापना-निक्षेप की सत्यता एवं वन्दनीयता बताई हुई है। उसके थोड़े से नमुने नीचे दिये जाते हैं -

1. **श्री अनुयोगद्वार सूत्र** में प्रत्येक पदार्थ के कम से कम 'नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव' ये चार निक्षेप करने की आज्ञा दी गई है।

2. **श्री ठाणांग सूत्र** में चार तथा दस सत्यों का निरूपण किया गया है तथा इसमें स्तापना को भी सत्यरूप में स्वीकार किया गया है।

3. **श्री आवश्यक सूत्र** में चारों निक्षेपों से श्री अरिहंत का ध्यान करने का आदेश है। जिनमें चतुर्विंशतिस्तव नाम और द्रव्य निक्षेप से तथा चैत्यस्तव द्वारा स्थापना निक्षेप से श्री

जिनेश्वर देव की आराधना बताई गई है।

4. **श्री भगवती सूत्र** के प्रारम्भ में ज्ञान की स्थापना के रूप में श्री गणधर देवों ने श्री बंभी लिपि को नमस्कार किया है।

5. **श्री दशवैकालिक सूत्र** में स्त्री की प्रतिकृति भी देखने की साधु को मनाई कर स्थापना के शुभाशुभ प्रभाव को स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है।

6. **श्री भगवती सूत्र** के बीसवें शतक के नवे उद्देश में लब्धिधर चारणमुनियों द्वारा शाश्वत और अशाश्वत जिनप्रतिमाओं की, की हुई वन्दना का स्पष्ट उल्लेख हैं।

7. **श्री समवायांग सूत्र** में चारणमुनि श्री नन्दीश्वरद्वीप में चैत्यवन्दन के लिए जाते हैं तब सत्रह हजार योजन ऊर्ध्व गति करते हैं, इसका स्पष्ट वर्णन हैं।

प्रतिमा की पूजनीयता के प्रमाण

श्री जिनप्रतिमा जिस प्रकार वन्दनीय है उसी प्रकार पूजनीय भी है। इसके लिए इन्हीं बत्तीस आगमों में निम्न प्रकार के प्रमाण मौजूद हैं :-

1. **श्री रायपसेणी सूत्र** में श्री सूर्याभदेव द्वारा की हुई पूजा का विस्तृत वर्णन है। श्री सूर्याभ देवता परम सम्यग्दृष्टि, परित्तसंसारी, सुलभबोधि और परम आराधक हैं, ऐसा भगवान् ने स्वमुख से फरमाया है।

2. **श्री ज्ञाता सूत्र** में भवनपति निकाय के देवियों की जिनभक्तिकी प्रशंसा की गई है।

3. **श्री भगवती सूत्र** में प्रभु के सामने इन्द्रादि द्वारा किये हुए नाटक की प्रशंसा है।

4. **श्री जीवाभिगम सूत्र** में श्री विजयदेव द्वारा किये गये नाटक की प्रशंसा है।

5. **श्री ठाणांग सूत्र** के चौथे स्थान में श्री नन्दीश्वर द्वीप पर कई देवी-देवताओं की पूजा भक्ति का वर्णन है।

6. **श्री जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति** में श्री जिनेश्वरदेव की दाढ़ें और अस्थि, दंतादि प्रमुख अवयव, देवता भक्तिपूर्वक अपने स्थान पर ले जाकर पूजते हैं तथा अग्निदाह के स्थान पर प्रमुख स्तूप की रचना करते हैं, इसका स्पष्ट वर्णन हैं।

7. **श्री भगवती सूत्र** के दसवें शतक के छट्ठे उद्देश में इन्द्र की सुधर्मसभा में श्री वीतराग की दाढ़ों की आशातना के वर्जन का वर्णन है।

8. **श्री दशवैकालिक सूत्र** में देवताओं को मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विवेकी बतलाया है तथा उन देवताओं के जीव पूर्वभव में तपस्या और श्रुत की आराधना करके

देवलोक में उत्पन्न हुए हैं; अतः उनके द्वारा कृत कार्य अत्यन्त माननीय हैं, ऐसा प्रतिपादन किया हुआ है।

श्रावकों के लिए भी प्रतिमा की पूजनीयता के प्रमाण :

बत्तीस आगमों में जैसे देवताओं द्वारा श्री जिनप्रतिमा की पूजा करने के उल्लेख हैं वैसे इन्हीं बत्तीस आगमों में मनुष्यों द्वार की हुई प्रतिमापूजन के भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनमें से कई निम्नानुसार हैं -

1. **श्री उववाई सूत्र** में बताया गया है कि अंबड़ परिव्राजक और उसके ७०० शिष्यों ने श्री वीतराग को नमन करने की तथा उनकी प्रतिमा को छोड़कर अन्य किसी को नमन नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी।

2. **श्री उपासक दशांग सूत्र** में बताया गया है कि आनन्दश्रावक ने अन्यतीर्थी अथवा अन्य देवी देवता तथा उनकी प्रतिमाओं को वन्दन-नमस्कार आदि नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी।

3. **श्री भगवती सूत्र** में असुरकुमारदेव सौधर्मदेवलोक तक जाते हैं। उस समय श्री अरिहन्त, उनके चैत्य तथा अणगार मुनि, इस प्रकार तीनों का शरण स्वीकार करते हैं, ऐसा वर्णन किया हुआ है।

4. **श्री समवायांग सूत्र** में आनन्दादि दस श्रावकों के चैत्य आदि का वर्णन किया हुआ है।

श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में श्री जिनप्रतिमा की वैयावच्च आदि करने की आज्ञा गई है। (यहाँ प्रतिमा के वैयावच्च से तात्पर्य है इसके अवर्णवाद, उपेक्षा, विराधना आदि को टालना।)

5. **श्री कल्पसूत्र** में श्री सिद्धार्थ राजा के अनेक याग अर्थात् श्री जिनप्रतिमा की पूजा करने के उल्लेख हैं। (श्री सिद्धार्थ राजा परम सम्यग्दृष्टि श्रावक थे। पशुहिंसा का यज्ञ उनके लिए संभव नहीं है। श्री भगवती आदि सिद्धान्तों में जहाँ राजा श्रेणिक और महाबलकुमार आदि के अधिकार आते हैं वहाँ **''ण्हाया कय बलिकम्मा''** ऐसे जो उल्लेख किये हुए हैं इस बलिकर्म का अर्थ भी जिनपूजा ही समझना है।)

6. **श्री ज्ञातासूत्र** में द्रौपदी की पूजा का विस्तृत अधिकार है। (द्रौपदी परम सम्यग्दृष्टि श्राविका थी। शासन-प्रभावना सम्यक्त्व के आठ आचारों में से एक है। श्री जिनप्रतिमा की महोत्सवपूर्वक पूजा भी शासन-प्रभावना का तथा शासन-उन्नति का एक परम अंग है, ऐसा

श्री उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में वर्णित है।)

हिंसा का वास्तविक स्वरूप

''श्री जिनपूजा में हिंसा होती है'' ऐसा कहकर जो उसका निषेध करते हैं उनके लिए भी उनको मान्य बत्तीस आगमों के आधार पर नीचे अनुसार हितशिक्षा है -

जिस-जिस क्रिया में हिंसा होती है, वह यदि त्याज्य है तो सुपात्रदान, मुनिविहार, साधर्मिक-वात्सल्य तथा दीक्षा महोत्सव आदि सभी धर्मकार्य भी त्याज्य ही माने जायेंगे। परन्तु श्री आवश्यक सूत्र, श्री भगवती सूत्र, श्री आचारांग सूत्र और श्री ज्ञातासूत्र आदि आगमों में मुनिदान, साधुविहार और साधर्मिक वात्सल्य आदि धर्मकार्य करने की साधु तथा श्रावक दोनों की आज्ञा दी गई है।

✦ **श्री उववाई सूत्र** में राजा कोणिक द्वारा किए गए प्रभु के वन्दन-महोत्सव का विस्तृत वर्णन है।

✦ **श्री भगवती सूत्र** में उदायन राजा द्वारा किया हुआ भगवान के नगर-प्रवेश महोत्सव का तथा तुंगीया नगरी के श्रावकों द्वारा की गई श्री जिनपूजादि का वर्णन है।

✦ **श्री विपाक सूत्र** में सुबाहुकुमार का वर्णन है। उसमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक पर रहे हुए भी उन सुबाहुकुमार द्वारा किये हुए सुपात्रदान से पुण्यबंध तथा परीत्त-संसार होने का कहा है। जो हिंसा के योग से केवल अधर्म ही होता तो सुबाहुकुमार को पुण्यबंध की प्राप्ति तथा परित्त-संसारिता की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती थी? पर सच्ची बात तो यह है कि दान की भाँति जिनपूजा भी परित्त-संसार तथा पुण्यबंध का कारण होती है।

श्री जिनपूजा तथा सुपात्रदानादि धर्मकार्यों में आरम्भ होता है पर फिर भी वह सदारम्भ है और उसके योग से संसार के अन्य असदारम्भ से निवृत्ति होती है, यह बड़ा लाभ है। जो लोग घर, कुटुम्ब, धन-माल, परिवार, बिरादरी आदि असदारम्भों से मुक्त नहीं हुए हैं, उनके लिए दान, देवपूजा, स्वामिवात्सल्य आदि सदारम्भ हितकारी तथा करणीय है।

✦ **श्री रायपसेणी सूत्र** में श्री केशी नाम के गणधर भगवन्त ने प्रदेशी राजा को असदारम्भ छोडने के लिए कहा है न कि सदारम्भ। सदारम्भ में दो गुण हैं। जहाँ तक सदारम्भ रहता है, वहाँ तक असदारम्भ नहीं हो सकता तथा सदारम्भ में जो द्रव्य खर्च होता है उस द्रव्य से असदारम्भ का सेवन नहीं होता।

हिंसा के तीन प्रकार

साधु अथवा श्रावक के जितने भी उत्तम कार्य हैं उनमें हिंसा निहित है। परन्तु यह हिंसा कर्मबन्ध का कारण नही है। हिंसा तीन प्रकार की कही गई है : हेतु, स्वरूप और अनुबंध।

सांसारिक कार्यों की सिद्धि के लिए होने वाली हिंसा हेतु-हिंसा है। धर्मकार्यों के लिए होने वाली अनिवार्य हिंसा स्वरूप-हिंसा है तथा मिथ्यादृष्टि आत्मा से होने वाली हिंसा अनुबन्ध हिंसा है। इनमें स्वरूपहिंसा कर्मबन्ध का कारण नहीं है।

धर्मकार्य के समय प्राणी की हत्या का नहीं परन्तु उसकी रक्षा करने का उद्देश्य होता है पर फिर भी अनिवार्य रूप से यदि हिंसा हो जाती है तो वह स्वरूप-हिंसा है। स्वरूपहिंसा तेरहवें गुणस्थानक तक नहीं टल सकती परन्तु इसे केवलज्ञानादि गुणों की प्राप्ति में प्रतिबन्धक नहीं माना गया है।

हेतु-हिंसा और अनुबन्ध-हिंसा त्याज्य है क्योंकि वे संसार के हेतुभूत क्लिष्ट कर्मों के उपार्जन में हेतुभूत हैं। श्री आचारांगादि सिद्धान्तों में अपवाद रूप से हिंसा आदि का प्रयोग करने वाले मुनिवरों को तथा समुद्र के जल में अप्कायादि की विराधना होते हुए भी शुभध्यानारूढ़ मुनिवरों को केवलज्ञान तथा मुक्ति प्राप्त होने के उदाहरण है। संयमशुद्धि के लिए आवश्यक साधु-विहारादि की भाँति श्री जिनभक्ति आदि में होने वाली हिंसा को श्री जिनआगमों ने कर्मबन्ध करने वाली नहीं माना है। केवल दया की निरपेक्ष प्रधानता, लौकिक मार्ग है। लोकोत्तर मार्ग श्री जिनाज्ञा की प्रधानता में बसा हुआ है।

श्री जिनशासन स्याद्वादगर्भित है। सुविवेक पूर्वक के आशयभेद से हिंसा भी अहिंसा बन जाती है तथा विवेकहीन की अहिंसा भी हिंसा बन जाती है। आत्मभाव का जिसमें हनन होता है वह हिंसा है पर जिससे आत्मभाव का हनन नहीं होता, वह हिंसा नहीं है। दान, देवपूजा, प्रतिक्रमण, पौषध, साधुविहार तथा साधर्मिक वात्सल्य आदि आत्मा का हनन करने वाली क्रियाएँ नहीं है और इसीलिए वे परम्परा से पूर्ण अहिंसामय हैं और वे मुक्ति दिलाती है। 'मुक्ति के साधनों का सेवन करते समय होने वाली अनिवार्य हिंसा आत्मभाव का हनन करने वाली नहीं होती' यह बोध जिन्हें नहीं मिला वे धर्मबुद्धि से ही अधर्म का सेवन करने वाले बन जाते हैं अथवा अधर्म के सेवन को ही धर्म का कारण मानने लगें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

दानादि शुभ कार्यों की भाँति श्री जिनपूजा आत्मभाव को विकसित करने वाली है; अत: हिंसा के नाम पर इससे दूर रहना या दूसरों को दूर भगाना घोर अज्ञानतापूर्ण आत्मघाती कदम है।

मूर्ति को नहीं मानने से होने वाले नुकसान

मूर्ति को नहीं मानने से निम्नलिखित नुकसान स्पष्ट हैं :

1. मूर्ति को नहीं मानने के कारण 32 उपरान्त के आगमों से, पूर्वधरों द्वारा बनाये गये निर्युक्तिआदि ज्ञान के समुद्र समान महाशास्त्रों से तथा उनके उत्तमोत्तम सद्बोधों से

वंचित रहना पड़ता है और आगमों के सूत्रों को एवं ग्रन्थकर्ता प्रामाणिक महापुरुषों को अप्रामाणिक कहकर ज्ञान तथा ज्ञानियों की आशातना से घोर पापकर्मों का उपार्जन होता है।

2. बत्तीस आगमों की भी निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि वगैरह नहीं मानने से, उनके विरुद्ध स्वकपोल-कल्पित टीकाटब्बे आदि बनाकर, स्व-पर को अनर्थ के भयंकर गड्ढे में डुबोना हैं।

3. अन्य चरित्रादि ग्रन्थों में से मूर्ति-विषयक पाठ उड़ा कर उनकी जगह स्व-कल्पित पाठ लिखकर सैकड़ों ग्रन्थों में मूल ग्रन्थकर्ता के अभिप्राय के विरुद्ध उथल-पुथल और चोरियाँ करनी पड़ती हैं, इससे भी महाकर्मबन्धन होता है।

4. मूर्ति को नहीं मानने से यात्रा हेतु तीर्थस्थानों में जाना आदि स्वतः ही बन्द हो जाता है। इससे तीर्थस्थानों में यात्रा निमित्त जाने के जो लाभ होते हैं वे अपने आप बन्द हो जाते है। तीर्थभूमि में जाने पर उतने समय के लिए गृहकार्य, व्यापार, आरम्भ, परिग्रहादि से स्वाभाविक मुक्ति मिलती है पर जब ऐसे स्थानों पर जाना ही बन्द हो जाता है तब ब्रह्मचर्यपालन तथा शुभ क्षेत्रों में द्रव्य-व्यय आदि द्वारा जो पुण्योपार्जन होता है, वह रुक जाता है।

5. मूर्ति को नहीं मानने से श्री जिनेश्वरदेव की द्रव्यपूजा छूट जाती है और इससे द्रव्यपूजा निमित्त जो शुभ द्रव्य व्यय होता है, तथा भगवान के सामने स्तुति, स्तोत्र, चैत्यवन्दनादि होते है, वे रुक जाते है और श्री जिनमन्दिर जाकर प्रभुभक्ति के निमित्त अपने समय और द्रव्य का सदुपयोग करने वाले पुण्यवान आत्माओं की टीका और निन्दा करना ही बाकी रहता है। इससे क्लिष्ट कर्मों का उपार्जन और अज्ञानादि महान् दोषों की प्राप्ति होती है।

6. मूर्ति को नहीं मानने से श्री जैनसंघ की एकता को बड़ा आघात होता है तथा एक ही धर्म के मानने वाले व्यक्तियों में धर्म के निमित्त फूट के बीजों का बीजारोपण होता है जिससे अन्य लोगों में भी जैनधर्म की हँसी होती है। प्रवचन की मलिनता करवाना महान् दोष है। इतना ही नहीं, इससे जैन धर्म के प्रति जैनेतरों का जो आकर्षण है वह भी स्वाभाविक रूप से कम हो जाता है।

प्रतिमा-पूजन से होने वाले लाभ

अब श्री जिनप्रतिमा की पूजा से होने वाले लाभों से भी परिचय प्राप्त कर लें -

1. सदा पूजा करने वाला व्यक्ति पाप से डरता है तथा पर-स्त्रीगमन आदि अनीतिपूर्ण अपकृत्य करने के संस्कार इसकी आत्मा में से धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं।

2. कुछ समय प्रभु के गुणगान करने का अवसर निरन्तर प्राप्त होता है और इससे

थोड़ी बहुत अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

3. सदा पूजा करने वाले का थोड़ा बहुत द्रव्य भी प्रतिदिन शुभ क्षेत्र में खर्च होता है, जिससे पुण्यबंध होता है।

4. अनीति, अन्याय और आरम्भ से उपार्जित द्रव्य भी यदि अनीति के त्याग की भावना से तथा पश्चातापपूर्वक मन्दिर बनवाने के काम में लगाया जाय तो इससे दुर्गति रुकती है। मन्दिर आदि बँधवाने से लाखों लोग इसका लाभ लेते है। धन का लाभ तथा व्यय - दोनों ही कर्मबंध का कारण होते हुए भी मन्दिर आदि बनवाने में इसका उपयोग होने से वह कर्म निर्जरा का कारण बन जाता है।

5. सदा प्रतिमा की पूजा करने से तीर्थयात्रा करने की शुभ भवाना रहती है। तीर्थयात्रा करने से चित्त की निर्मलता, शरीर का स्वास्थ्य और दान, शील तथा तप की वृद्धि आदि महान् लाभ प्राप्त होते हैं।

6. बीमारी वगैरह में सेवा-पूजा नहीं भी हो सके तो भी भावना सेवा-पूजा की ही रहती है और ऐसी दशा में कभी मृत्यु भी हो जाय तो भी जीव की शुभ गति होती है।

7. गृहस्थों के आत्मकल्याण के लिए मन्दिर और मूर्ति मुख्य साधन हैं। सुविहित शिरोमणि आचार्य भगवान श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज फरमाते हैं ''आरम्भ में आसक्त बने हुए, छह काय जीव के वध से नहीं बचे हुए एवं भवसागर में भटकते गृहस्थों के लिए निश्चित रूप से द्रव्यस्तव ही आलम्बनभूत है। इन सब लाभों का विचार करके और कुछ नहीं भी बन सके तो भी श्री जिनेश्वरदेव की प्रतिमा के पूजन के लिए तो प्रत्येक कल्याण चाहने वाले व्यक्तिको तत्पर रहना ही चाहिए। इस मानव-जन्म में श्री जिनपूजा की पवित्र एवं कल्याणकारी प्रवृत्ति के आचरण में थोड़ा भी प्रमाद करना विवेकी लोगों के लिये उचित नहीं है।

भक्ति तो मुक्ति की दूती है। जहाँ परमात्म-भक्ति होगी वहाँ मुक्ति आए बिना नहीं रहेगी।

卐

जो जहाज में बैठा है, वह भयंकर सागर के बीच भी सुरक्षित है, जिसने प्रभु की शरणागति स्वीकार कर ली, वह विकट परिस्थितियों-प्रसंगों में भी पूर्णतया सुरक्षित है।

卐

मछली की सुरक्षा जल में रही हुई है, उसी प्रकार आत्मा की सुरक्षा प्रभु की शरणागति में रही हुई है।

10

चार निक्षेपों का शास्त्रीय स्वरूप

श्री अनुयोगद्वार सूत्र में शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं -

जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरयसेसं ।
जत्थ वि य न जाणेज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ।।1।।

जहाँ जिस वस्तु में जितने निक्षेप ज्ञात हों वहाँ उस वस्तु में उतने निक्षेप करना और जहाँ जिस वस्तु में अधिक निक्षेप मालूम नहीं हो सके वहाँ उस वस्तु में कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य करने चाहिए। तात्पर्य यह है कि जगत् के सभी छह द्रव्यों, नौ तत्त्वों, पाँच परमेष्ठियों तथा नौ पदों, इन सभी में कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य किये जा सकते हैं।

किसी भी वस्तु का स्वरूप जानने के लिए सामान्य रूप से कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य किये जाते है, वे इस प्रकार हैं -

१. **नाम निक्षेप** – वस्तु के आकार एवं गुण से रहित नाम को नाम निक्षेप कहते हैं।

2. **स्थापना निक्षेप** – वस्तु के नाम तथा आकार सहित परन्तु गुणरहित, उसे स्थापना निक्षेप कहते हैं।

3. **द्रव्य निक्षेप** – वस्तु के नाम और आकार तथा अतीत और अनागत गुण सहित परन्तु वर्तमान गुण रहित को द्रव्य निक्षेप कहते हैं।

4. **भाव निक्षेप** – वस्तु के नाम, आकार और वर्तमान गुण सहित को भाव निक्षेप कहते हैं।

उदाहरण स्वरूप - श्री जिनेश्वर देवों के 'महावीर' आदि नाम, वे नाम जिन; उन तारकों की प्रतिमा, वे स्थापनाजिन, जिन-नाम-कर्म बाँधा हो ऐसे श्री जिनेश्वरदेव के जीव, वे द्रव्यजिन और समवसरण में धर्मोपदेश देने के लिए विराजमान साक्षात् श्री जिनेश्वरदेव, वे भावजिन कहलाते हैं। इस प्रकार श्री जिनेश्वरदेव के चार निक्षेप समझने चाहिए।

इन चार निक्षेपों के अभाव में कोई भी वस्तु वस्तु रुप में सिद्ध नहीं हो सकता। जगत्

में शश-श्रृंग नहीं हैं तो उनका वाचक शुद्ध शब्द भी नहीं है। जिसका नाम नहीं होता, उसकी आकृति भी किसी प्रकार बन नहीं सकती। जिसका नाम अथवा आकार दोनों नहीं होते उसकी पूर्वापर अवस्था और वर्तमान अवस्था रूप पर्याय के आधारभूत द्रव्य भी नहीं होता; जहाँ नाम, स्थापना तथा द्रव्य इन तीनों का अभाव होता है, वहाँ वस्तु का भाव या गुण तो हो ही कैसे सकता है?

इसलिए नामादि निक्षेप विहीन किसी पदार्थ का इस जगत् में अस्तित्व होता ही नहीं है। अत: द्रव्यादिक तीनों निक्षेपों को माने बिना केवल भावनिक्षेप को मानने की बात शशश्रृंगवत् कल्पित है। जिसका नाम, उसी की स्थापना, जिसकी स्थापना उसी का द्रव्य, उसी का भाव। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में चारों निक्षेप एक साथ रहे हुए हैं।

किसी भी वस्तु को पहचानने के लिए सर्वप्रथम उसका नाम जानने की आवश्यकता होती है, यह नामनिक्षेप है। नाम जान लेने के पश्चात् उसी वस्तु की विशेष पहचान के लिए उसकी आकृति, आकार अथवा स्थापना जानने की जरूरत होती है, वह स्थापनानिक्षेप है। उसी वस्तु के सम्बन्ध में उससे भी अधिक ज्ञान प्राप्त करना हो तो उसके गुण-दोष बताने वाली उसकी आगे-पीछे की अवस्था का निरीक्षण करना पड़ता है, उसको द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है तथा इन तीनों निक्षेपों के स्वरूप का प्रत्यक्ष बोध कराने वाली साक्षात् जो वस्तु है, उसे भावनिक्षेप माना जाता है। भाव निक्षेप का यथार्थ ज्ञान करने के लिए प्रथम के तीनों निक्षेपों के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

जंगल में अमूल्य वनस्पतियाँ होते हुए भी जिनके नाम तथा आकारादि का ज्ञान नहीं होता है, उनके गुणों का भी ज्ञान नहीं हो सकता है। नामादि तीनों निक्षेपों के ज्ञान से विहीन आत्मा के लिए भावनिक्षेप को विपरीत रूप से ग्रहण करने की अधिक सम्भावना है। जिस बालक को सोमल अथवा सर्प आदि विषमय वस्तु के नाम, आकार आदि का ज्ञान नहीं होता, ऐसा अज्ञानी बालक साक्षात् सोमल या सर्प वगैरह से बच नहीं सकता। इससे सिद्ध होता है कि भाव का साक्षात् ज्ञान कराने वाला अकेला भाव नहीं पर उसका नाम, आकार तथा पूर्वापर अवस्था, ये सब मिलकर ही किसी भी पदार्थ के भाव का निश्चित बोध कराते हैं।

केवल भावनिक्षेप को मानकर जो नाम आदि निक्षेपों को मानने से इन्कार करते हैं, उन्हें कोई दुष्ट व्यक्ति उनके पूज्य या प्रिय व्यक्ति का नाम लेकर निंदा करे, गाली दे या तिरस्कार करे तो क्या उनको क्रोध नहीं आता? अथवा उसी पूज्य या प्रिय व्यक्ति के नाम से उनकी तारीफ करे तो क्या खुशी नहीं होती? अवश्य होती है। अत: नामनिक्षेप व्यर्थ है, ऐसा

कहने वाला मिथ्याभाषी है।

इसी प्रकार अपने पूज्य आदि के चित्र को किसी दुराचारी स्त्री के साथ रखकर उस पर से कुचेष्टा वाला चित्र लेकर कोई नालायक व्यक्ति स्थान-स्थान पर उसकी अपकीर्ति करे तो इससे मूर्ति को नहीं मानने वालों को भी क्या क्रोध नहीं आएगा? अवश्य आएगा। अर्थात् स्थापनानिक्षेप व्यर्थ है, ऐसा कहना अनुचित है।

नाम और स्थापना की भाँति ही अपने पूज्य आदि की पूर्वापर अवस्था की बुराई या भलाई सुनने से क्रोध या आनन्द पैदा होता है और पूज्य के लिए साक्षात् अपकीर्ति और अपशब्द सुनने पर भी इनके चाहने वालों को अवश्य दु:ख होता है तथा प्रशंसा सुनने पर सुख की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि चारों निक्षेपों में भिन्न-भिन्न प्रभाव पैदा करने की शक्ति प्रकट रूप से रही हुई है।

1. नाम निक्षेप

किसी भी वस्तु के सांकेतिक नाम के उच्चारण से उस वस्तु का बोध कराना प्रथम नाम निक्षेप का विषय है। श्री ऋषभादिक चौबीस तीर्थंकरों के नाम, उनके माता-पिता ने जन्म-समय पर रखे होते है। इसमें कारण, उनके गुण नहीं किन्तु केवल पहिचानने का संकेत है। नाम रखने में यदि गुण ही कारण होता तो सभी तीर्थंकर समन गुणवाले होने के कारण सभी का एक ही नाम रखना चाहिए था।

समान गुण वालों के भिन्न नाम तो तभी हो सकते हैं जब नाम रखते समय गुण की अपेक्षा आकार आदि की भिन्नता पर भी लक्ष्य दिया जाए। चौबीस तीर्थंकरों के गुण समान होते हुए भी प्रत्येक के आकार, पूर्वापर अवस्था आदि में भिन्नता थी। उसी प्रकार एक ही नाम की जहाँ अनेक वस्तुएँ होती है, वहाँ भी नाम द्वारा जिस वस्तु विशेष का बोध होता है, उसका कारण भी उस वस्तु में रहने वाली गुण, आकार आदि की भिन्नता है। जैसे 'हरि' दो अक्षर का नाम है परन्तु उससे अनेक वस्तुओं का संकेत होता है। 'हरि' शब्द कहते ही 'कृष्ण, सूर्य, बन्दर, सिंह और घोड़ा' आदि अनेक अर्थों का बोध होना शक्य होने पर भी ऐसा नहीं होकर केवल कृष्ण का ही बोध होता है। इसका कारण उस शब्द को बोलने वाले का अभिप्राय कृष्ण ही कहने का है। इसी प्रकार सूर्य के ध्येय से 'हरि' शब्द बोलने से केवल सूर्य का ज्ञान होता है पर कृष्णादि अन्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता ।

इससे सिद्ध होता है कि अनेक संकेत वाले एक नाम में भिन्न-भिन्न संकेतों को बोध कराने की जो शक्ति है, उसका कारण अकेला नाम निक्षेप नहीं, पर उन नामों के साथ अन्य सभी निक्षेपों का होने वाला बोध है।

दूसरा उदाहरण 'कोट' शब्द का लेते हैं। 'कोट' शब्द से पहिनने का वस्त्र तथा नगर

की परिक्रमा करती चारदीवारी, आदि अर्थों का बोध होता है। परन्तु जब वस्त्र के उद्देश्य से 'कोट' शब्द का प्रयोग होता है तब अन्य अर्थों का बोध नहीं होता। इसी प्रकार गढ़ के हेतु से 'कोट' शब्द का प्रयोग करते समय वस्त्र आदि का ज्ञान नहीं होता, इसका कारण उन वस्तुओं के चारों निक्षेप भिन्न होने के अतिरिक्त क्या है?

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि बाकी के तीन निक्षेप उन्हीं के वन्दनीय एवं पूजनीय हैं, जिनके भावनिक्षेप वन्दनीय और पूजनीय हैं और इसी कारण श्री भगवती, श्री उववाई और श्री रायपसेणी आदि सूत्रों में श्री तीर्थंकरदेव तथा अन्य ज्ञानी महर्षियों के नामनिक्षेप भी वन्दनीय हैं, ऐसा कहा गया है।

उन-उन स्थानों पर कहा गया है - ''श्री अरिहन्त भगवन्तों का नाम-गोत्र भी सुनने से वास्तव में महाफल होता है।'

नामनिक्षेप का महत्त्व बताने के लिए श्री ठाणांग सूत्र के चौथे और दसवें स्थान में भी कहा गया है कि -

''चउव्विहे सच्चे पन्नत्ते, तं जहा-नाम सच्चे, ठवणसच्चे, दव्वसच्चे भावसच्चे तथा दसविहे सच्चे पनत्ते तं जहा -

जणवयसम्मयठवणा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।

ववहारभावजोगे, दसमे उवम्मसच्चे अ ।।1।।

चार प्रकार के सत्य बताये गये है : नाम सत्य, स्थापना सत्य, द्रव्य सत्य और भाव सत्य तथा श्री तीर्थंकरदेवों ने इस प्रकार के सत्य भी बतलाये हैं। जनपदसत्य, सम्मतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य और उपमासत्य।

इस प्रकार दो चार अक्षरों के नाम की सत्यता और उससे भी महान् फल की सिद्धि होती है, ऐसा शास्त्रकार महापुरुषों ने स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया है, तो फिर श्री वीतरागदेव के स्वरूप का भान कराने वाली शान्त आकार वाली भव्य मूर्ति के दर्शन-पूजन आदि से अनेक गुण लाभ हों तो इसमें क्या आश्चर्य है?

1. **जनपद सत्य** - पानी को किसी देश में पय, किसी में पीच्य, किसी में उदक और किसी में जल कहते हैं, यह जनपद सत्य है।

2. **सम्मत सत्य** - कुमुद, कुवलय आदि पुष्प भी कमल से उत्पन्न होते हैं फिर भी पंकज शब्द अरविंद, कुसुम में ही सम्मत है, यह सम्मत सत्य है।

3. **स्थापना सत्य** - लेप आदि के विषय में अरिहन्त प्रतिमा, एक आदि अंक विन्यास और कार्षापण आदि के विषय में मुद्राविन्यास आदि, ये सब स्थापना सत्य हैं।

4. **नाम सत्य** - कुल की वृद्धि न करता हो तो भी 'कुलवर्धन' आदि नाम, यह

नाम सत्य है।

5. **रूप सत्य** - व्रत का आचरण न करता हो और क... ...ग मात्र से व्रती कहलाए, यह रूप सत्य है।

6. **प्रतीत्य सत्य** - अनामिका अंगुली कनिष्ठा के सम्बन्ध से दीर्घ और मध्यमा के सम्बन्ध से लघु कहलाती है, यह प्रतीत्य सत्य है।

7. **व्यवहार सत्य** - पर्वत पर घास आदि जलने पर भी यह कहना कि 'पर्वत जलता है', पानी जमने पर यह कहना कि 'घड़ा जमता है' तथा उदर होते हुए भी यह कहना कि अनुदरा कन्या - ये सब व्यवहार सत्य है।

8. **भाव सत्य** - बगुला सफेद और भ्रमर श्याम कहा जाता है। वास्तव में तो उन दोनों में पाँचों वर्ण हैं, फिर भी वर्ण की उत्कटता के कारण बगुले को सफेद व भ्रमर को श्याम कहना, यह भाव सत्य है।

9. **योग सत्य** - दंड के योग से दंडी, छत्र के योग से छत्री आदि कथन, योग सत्य है।

10. **उपमा सत्य** - समुद्र के समान तालाब आदि का कथन, उपमा सत्य है।

2. स्थापना निक्षेप

जिस वस्तु का नाम मात्र सुनकर उसका बोध और भक्ति होना सम्भव है, तो वस्तु की आकृति अथवा जिसमें नाम के उपरान्त आकार है उससे अधिक बोध और भक्ति कैसे नहीं होगी? और उसे करने के लिए कौन इच्छा नहीं करेगा? नाम निक्षेप जिस प्रकार शास्त्र सिद्ध है, उसी प्रकार स्थापना निक्षेप भी अनेक शास्त्रों से सिद्ध है।

श्री अनुयोगद्वार सूत्र में दस प्रकार से स्थापना का स्थापन करने को कहा गया है। 1 काष्ट में, 2 चित्र में, 3 पुस्तक में, 4 लेपकर्म में, 5 गुंथन में, 6 वेष्टन क्रिया में, 7 धातु का रस डालने में, 8 अनेक मणियों के संघात में, 9 शुभाकार पाषाण में और 10 छोटे शंख में।

इन दस प्रकारों में से किसी भी प्रकार में क्रिया तथा क्रियावान् पुरुष का अभेद मानकर, हाथ जोड़े हुए तथा ध्यान लगाये हुए आवश्यकक्रिया सहित साधु की आकृति अथवा आकृतिरहित स्थापना करना अथवा आवश्यक सूत्र का पाठ लिखना, यह स्थापना आवश्यक कहलाता है।

हाथ जोड़कर तथा ध्यान लगाकर क्रिया करने वाले का रूप यदि सद्भाव स्थापना है तो पद्मासनयुक्त, ध्यानारूढ़, मौनाकृति, श्री जिनमुद्रासूचक प्रतिमा स्थापनाजिन कैसे नहीं कहलाएगी? यदि प्रतिमा स्थापनाजिन नहीं, तो पूर्वोक्तस्वरूप आवश्यक भी स्थापना

आवश्यक नहीं कहलाएगा और ऐसा करने से श्री अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ का अपलाप हो जाएगा। सूत्र के पाठ का लोप अथवा अपलाप जिसको नहीं करना हो उसे तो श्री जिनस्वरूप प्रतिमा को 'स्थापना-जिन' के रूप में निःसन्देह स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यदि स्थापना को निरर्थक माना जाय तो जैनधर्म के सभी सूत्र-सिद्धान्त भी व्यर्थ बन जाते है क्योंकि वे भी श्री वीतराग देव के अरूपी ज्ञान के अंश रूपी अक्षरों की स्थापना ही है और यदि सूत्र-सिद्धान्तों का लोप होता है तो जैनधर्म का ही लोप हो जाता है। जिनको धर्म का लोपक नहीं बनना है, वे स्थापना की उपेक्षा किसी प्रकार नहीं कर सकते।

जिस प्रकार नाम के साथ चार निक्षेप जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार स्थापना के साथ भी चार निक्षेप जुड़े हुए हैं। यदि ऐसा न हो तो कुत्ते का चित्र देखने पर बिल्ली का ज्ञान हो जाना चाहिए और बिल्ली का चित्र देखने पर कुत्ते का ज्ञान होना चाहिए। परन्तु कुत्ते का चित्र देखकर कुत्ते का ही ज्ञान होता है और किसी का नहीं, क्योंकि चित्र देखते ही कुत्ते के चार निक्षेप का ज्ञान होता है। जिसका चित्र देखने में आता है उसके चार निक्षेप मन में स्पष्ट हो जाते हैं।

यदि ऐसा नहीं होता तो भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा देखने पर श्री पार्श्वनाथ प्रभु का स्मरण हो जाना चाहिए क्योंकि दोनों के भाव निक्षेप समान हैं। भाव निक्षेप समान होते हुए भी एक तीर्थंकर की मूर्ति देखने से अन्य तीर्थंकरों का बोध नहीं होता, इसका कारण मूर्ति के साथ जुड़े हुए अन्य निक्षेप हैं। निक्षेपों का विषय यदि व्यर्थ है तो एक 'कुमुदचन्द्र' का नाम लेने या उसकी मूर्ति देखते समय जितने 'कुमुदचन्द्र' हों, उन सबका ज्ञान उस समय होना चाहिए. परन्तु ऐसा नहीं होता, केवल एक का ही ज्ञान होता है। अर्थात् एक नाम या एक मूर्ति वाले भिन्न-भिन्न पुरुष के चार-चार निक्षेप भी भिन्न-भिन्न हैं, यह बात सिद्ध होती है।

जैसे किसी के गुरु का नाम श्री 'रामचन्द्र' है और उस नाम के संसार में लाखों पुरुष विद्यमान हैं। गुरु के नाम वाले 'रामचन्द्र' ऐसे अक्षरों में गुरु के आकार का तो कोई भी चिह्न नहीं है तो फिर नाम मात्र से उस नाम के हजारों, लाखों पुरुषों में से किसका स्मरण और किसको नमस्कार सिद्ध होगा? यदि कहोगे कि 'रामचन्द्र' शब्द से मात्र गुरु का ही स्मरण और गुरु को ही नमस्कार हुआ पर अन्य को नहीं तो कहना ही पड़ेगा कि - 'रामचन्द्र' नाम के दूसरे सभी पुरुषों को नमस्कार नहीं करने के लिए और केवल श्री 'रामचन्द्र' नाम के अपने गुरु को ही नमस्कार करने के लिए गुरु की आकृति आदि को मन में स्थापित की हुई ही होगी। इस प्रकार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्थापनादि निक्षेप, स्वाभाविक रूप से गले में पड़ ही जाते हैं।

यहाँ यदि ऐसी शंका हो कि स्थापना निर्जीव होने से कार्यसाधक और पूजनीय कैसे बन सकती है? तो इसका समाधान है कि निर्जीव वस्तुमात्र यदि निरर्थक और अपूजनीय हो तो श्री समवायांग, श्री दशाश्रुतस्कंध तथा श्री दशवैकालिक आदि सुत्रों में फरमाया है कि गुरु के पाट, पीठ, संथारा आदि वस्तुओं को पैर की ठोकर लग जाय तो भी शिष्य को गुरु की आशातना का दोष लगता है। गुरु के पाट वगैरेह तो निर्जीव ही है।

पूर्वोक्त वस्तुएँ निर्जीव होते हुए भी गुरुओं की स्थापना होने के नाते उनका अविनय करने से शिष्य को आशातना लगती है और विनय करने से भक्ति एवं शुभ फल की प्राप्ति होती है। इसी भाँति श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति श्री जिनेश्वरदेव की ही स्थापना होने से उसकी आशातना या उसका विनय करने से अशुभ या शुभ फल की प्राप्ति होती है। श्री जैनशासन में विनय को ही मुख्य गुण माना गया है। उस गुण के पालन के लिए श्री जिनेश्वरदेव की स्थापना स्वरूप मूर्ति की भक्ति आदि करना भी जैनधर्म में मुख्य वस्तु गिनी जाती है।

यहाँ तक कि साधुओं के वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण और मुँहपत्ति आदि उपकरण निर्जीव होते हुए भी उनके द्वारा चारित्रगुण की साधना हो सकती है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है कि लकड़ी के घोड़े से खेलते हुए बालक को दूर हटाने के लिए कोई साधु उसे ऐसा कहे कि हे बालकः तेरी लकड़ी हटा, तो मुनि को असत्य बोलने का दोष लगता है। इस दोष से बचने के लिए साधु को ऐसा ही कहना चाहिए कि - हे बालक! तुम्हारा घोड़ा हटाओ; लकड़ी में कोई साक्षात् घोडापन तो है ही नहीं; केवल उसकी असद्भूत स्थापना है, तब भी उसे मानना जरूरी है, तो श्री जिनप्रतिमा को, जो श्री जिनेश्वरदेवों की सद्भूत स्थापना है, उसे माने बिना कैसे चल सकता है?

शक्कर के खिलौने जैसे हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, गाय, मनुष्य आदि खाने से पंचेन्द्रिय की हत्या करने का पाप लगता है, ऐसा दया धर्म को समझने वाले सभी मानते हैं। वे सभी वस्तुएँ निर्जीव है फिर भी उनमें जीव की स्थापना होने से ही उनको खाने का निषेध किया गया है। इसके सिवाय दूसरा कोई भी कारण ज्ञात नहीं होता।

दीवार पर चित्रित स्त्री की आकृति विकार का हेतु होने से साधु को उसे नहीं देखना चाहिए। ऐसा जो निषेध किया गया है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि निर्जीव वस्तुएँ असर करने वाली होती हैं।

स्थापना निर्जीव होने पर भी उसके प्रभाव को जानने के लिए निम्नलिखित दृष्टांत विश्वविख्यात है :-

1. अपने पति के चित्र को देखकर पतिव्रता स्त्री खूब प्रसन्न होती है; परन्तु उसमें कभी द्वेष की भावना दिखाई नहीं देती है।

2. प्रजावत्सल राजाओं की प्रतिकृतियाँ देखकर वफादार प्रजा नाराज न होकर प्रसन्न

ही होती है और इसी कारण ऐसे राजा-महाराजाओं की तथा महान् पराक्रमी पुरुषों की प्रतिमाएँ उनकी यादगार में बने हुए स्थानों पर नजर आती है।

3. परदेशवासी अपने स्वजन आदि के हस्ताक्षर वाले पत्र को देखकर भी अपने हितैषियों के स्नेहमिलन जैसा सन्तोष अनुभव करते हैं।

4. अपने ज्येष्ठ तथा इष्टमित्रों की तस्वीर देखकर उनके उपकार और गुणों का स्मरण हो आता है और हृदय प्रेम से पुलकित हो जाता है।

5. कामशास्त्र में स्त्री-पुरुषों के विषय-सेवन के चौरासी आसन आदि देखने से कामीजनों को तुरन्त कामविकार उत्पन्न होता है।

6. योगासन की विचित्राकार स्थापना देखने से योगी पुरुषों की बुद्धि योगाभ्यास में प्रीति को धारण करने वाले होती है।

7. भूगोल का अभ्यास करने वाले नक्शादि देखकर विश्व की अनेक वस्तुओं का ज्ञान आसानी से कर सकते हैं।

8. शास्त्र सम्बन्धी अक्षरों की स्थापना से उनको देखने वाले मनुष्य को तमाम शास्त्रों का ज्ञान भी हो जाता है।

9. खेतों में पुरुष की आकृति खड़ी करने से यह आकृति निर्जीव होते हुए भी उसके द्वारा खेत की रक्षा अच्छी तरह से हो सकती है।

10. लोगों में कहावत है कि अशोक वृक्ष की छाया चिन्ता को दूर करती है। चंडाल पुरुषों की अथवा रजस्वला स्त्रियों की छाया अशुभ असर करती है और गर्भवती स्त्री की छाया का उल्लंघन करने से योगी पुरुषों का पुरुषार्थ नष्ट होता है - यह विज्ञानसिद्ध है।

11. सती स्त्री का पति परदेश गया हो तब वह स्त्री अपने पति के फोटो का रोज दर्शन कर संतोष प्राप्त करती है। श्री रामचन्द्रजी वनवास गये तब उनके भाई भरत महाराजा, राम की चरण-पादुका को राम की तरह ही पूजते थे। सीताजी भी राम की अंगूठी को हृदय से लगाकर राम के साक्षात् मिलन का आनन्द अनुभव करती थी। हनुमान द्वारा लाये हुए सीता के आभूषणों को देखकर रामचन्द्रजी भी अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

श्री पांडवचरित्र में भी कहा गया है कि द्रोणाचार्य की प्रतिमा स्थापित करके उनके पास से एकलव्य नाम के भील ने अर्जुन जैसी धनुषविद्या सिद्ध की थी।

उपरोक्त दृष्टांत ऐसे भी हैं जिनमें शरीर का विशेष आकार नहीं है, ऐसी निर्जीव वस्तुओं से भी सन्तोष का अनुभव प्राप्त होता हुआ देखा जा सकता है तो फिर साक्षात् परमात्मा के स्वरूप का बोध कराने वाली प्रभुप्रतिमा जिसमें पूर्ण आनन्द ही है, वह मोक्ष का कारण क्यों न बने? शान्त मुद्रावाली श्री वीतराग परमात्मा की प्रतिमा की, उनके नाम-ग्रहण

पूर्वक की गई पूजा, प्रभु को अवश्य प्राप्त करवा देती है।

सेवक जैसे अपने स्वामी की मूर्ति द्वारा स्वामी की पूजा करके उसके द्वारा अपना कार्य सिद्ध करता है; वैसे ही परमात्मा की मूर्ति द्वारा परमात्मा की पूजा करने से पूजक भी महान् लाभ अवश्य प्राप्त कर सकता है। इसी कारण महापुरुषों ने श्री अरिहन्त परमात्मा आदि के चारों निक्षेप संसारी जीवों के लिए परम उपकारी और अत्यन्त लाभदायक बताये हैं। जिस वस्तु के भाव निक्षेप पर लोगों को सम्पूर्ण आदर हो, उनके नाम, स्थापना तथा गुणसमूह के स्मरण, दर्शन या श्रवण से अवश्य उस वस्तु के प्रति प्रेम और आदर में वृद्धि होती है।

जिस पर प्यार है उसके नाम, मूर्ति या गुण को मान देने से साक्षात् वस्तु को ही मान और आदर देने का अनुभव होता है।

किसी धनवान पिता ने परदेश से अपने पुत्र को पत्र द्वारा सूचना दी कि अमुक व्यक्तिको पाँच हजार रुपये दे देना। अब वह पुत्र उस पत्र को पिता का साक्षात् आदेश मानकर उस पर अमल करेगा या नहीं? करेगा, ऐसा ही कहोगे तो वह आदेश, पत्र में स्थापना रूप होने से स्थापना मानने लायक सिद्ध हो गई। यदि कहोगे कि पत्र मात्र से इस बात पर अमल नहीं करना तो ऐसा करने वाले पुत्र के लिए क्या कहा जाएगा। उसने पिता की आज्ञा का पालन किया या उल्लंघन किया? पालन नहीं, परन्तु उल्लंघन ही कहा जाएगा। इस दृष्टि से **श्री तीर्थंकर-गणधर-प्रणीत सूत्रों में प्रतिपादित स्थापना निक्षेप को मानने वाला स्वयं भगवान का ही आदर करने वाला बनता है तथा नहीं मानने वाला स्वयं भगवान का ही अपमान करने वाला बनता है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है।**

अपने पूर्वजों के चित्र तथा फोटो आदि उनके सम्पूर्ण स्वरूप का बोध कराने वाले होने से उनके भाव निक्षेप की ओर आकर्षित करते हैं, इसमें कोई शंका नहीं है। पर बड़े व्यक्तियों के पूर्णस्वरूप का बोध नहीं कराने वाले उनके वस्त्र, आभूषण एवं पोषाक आदि देखने से भी उनके गुण याद आ जाते हैं। यदि निर्जीव स्थापना निक्षेप सर्वथा निरर्थक हो तो पूर्वोक्त कार्यों में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भाव आते हैं, वे नहीं आने चाहिए।

अत: सोचना चाहिए कि परम पूजनीय, परमोपकारी, आराध्यतम, अनन्तज्ञानी, देवाधिदेव श्री तीर्थंकर भगवान की शान्त, निर्विकार और ध्यानारुढ़ भव्यमूर्ति के दर्शन से श्री वीतरागदेव के गुणों का स्मरण अवश्य होता ही है तथा उनकी उस मूर्ति को मान देकर हम उनका विनय करते हैं - ऐसा अवश्य कहा जाता है। इतना ही नहीं, पर उनकी मूर्ति के बारम्बार दर्शन, पूजन और सेवन से उनके भाव निक्षेप ऊपर का आदर और प्रेम दिन प्रतिदिन अवश्य बढ़ता जाता है।

यदि वस्तु के भाव निक्षेप पर प्रेम हो तो उसकी स्थापना आदि पर भी प्रेम आता है। इसी तरह जिनके भाव निक्षेप पर द्वेष हो, उनके नाम, स्थापना आदि चारों निक्षेपों पर भी द्वेषबुद्धि आती है। साक्षात् शत्रु को देखकर जैसे वैरभाव पैदा होता है वैसे ही उसकी मूर्ति को देखकर या नाम आदि सुनने से भी द्वेषभाव अवश्य प्रकट होता है।

जो तीर्थंकरों के भावनिक्षेप पर भक्ति रखते है तथा उनकी मूर्ति पर द्वेष - उनसे पूछें कि तुम्हारी मान्यता के अनुसार तो तुम्हारे मित्र आदि को साक्षात् देखकर तो तुम्हें प्रेम होना चाहिए परन्तु उनकी मूर्ति तथा नाम आदि देखकर और सुनकर प्रेम नहीं होना चाहिए परन्तु द्वेष पैदा होना चाहिए अथवा साक्षात् शत्रु से मुलाकात होते ही चित्र में क्रोधाग्नि प्रकट होनी चाहिए, परन्तु उसकी स्थापना तथा नाम से द्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिए किन्तु आनन्द उत्पन्न होना चाहिए। पर ऐसा विपरीत क्रम किसी भी स्थान पर देखने में नहीं आता।

कभी ऐसा कहा जाय कि शत्रु एवं मित्र दोनों में समभाव रखना चाहिए, किन्तु रागद्वेष नहीं करना चाहिए परन्तु ऐसा कथन केवल कहने मात्र का है। बड़े-बड़े योगीश्वर भी जब तक घाती कर्मों के योग से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक रागद्वेष से पूर्णतया नहीं छूट सकते तो संसार के अनेक जंजालों के मोह में फँसे गृहस्थ, रागद्वेष रहित समभाववाली अवस्था में रह सकते हैं, ऐसा कहना या मानना केवल आत्मवंचना है। एक ओर केवल श्री तीर्थंकरदेव के भावनिक्षेप पर ही प्रेम रखने की बात करना तथा दूसरी ओर समभाव में रहने की बात करना इसमें प्रत्यक्ष मृषावाद है। भावनिक्षेप पर राग परन्तु मूर्ति पर द्वेष, यह राग-द्वेष रहित स्थिति का लक्षण कैसे माना जा सकता है। एक निक्षेप पर द्वेष रखने से दूसरे निक्षेप पर भी द्वेष स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। स्थापना निक्षेप पर द्वेष रखकर भावनिक्षेप पर प्रेम रखने की बात करना, यह आत्मवंचना के सिवाय और कुछ नहीं है।

जो व्यक्ति प्रत्यक्ष में विद्यमान न हो तो उस व्यक्ति पर शुद्ध भाव पैदा करने के लिए उसकी स्थापना की भक्ति को छोड़कर अन्य कोई सरल उपाय नहीं है। बिना स्थापना के अविद्यमान वस्तु के प्रति शुद्ध भाव प्रकट किया ही नहीं जा सकता। चारों निक्षेपों का इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा निक्षेप रह ही नहीं सकता।

स्थापना का अनादर करने वाले से पूछा जाय कि वर्तमान में जो नोटों का चलन है ऐसे एक हजार रुपये का एक चैक अथवा ड्राफ्ट यदि तुम्हारे पास हो तो उसे तुम हजार रुपये मानते हो या कागज का टुकड़ा। यदि कहोगे कि 'हम तो उसे कागज के टुकड़े के समान मानते हैं तो उसे साधारण कागज के टुकड़े की तरह एक-दो पैसे में या मुफ्त में दूसरे को क्यों नहीं देते?' उसके उत्तर में कहोगे कि ऐसा मूर्ख कौन होगा जो हजार रुपये को एक पैसे में या मुफ्त में दे दे? तो फिर जरा सोचना चाहिए कि जैसे एक हजार रुपये की

अनुपस्थिति में उतनी रकम का काम एक चैक अथवा ड्राफ्ट से निकाला जा सकता है, वैसे ही श्री जिनेश्वरदेव की अनुपस्थिति में उनकी मूर्ति द्वारा भी साक्षात् भगवान को पूजने का फल अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।

3. द्रव्य निक्षेप

जो वस्तु भूतकाल में अथवा भविष्यत् काल में किसी कार्य के कारण रूप में निश्चित हो, उस कारणभूत वस्तु में कार्य का आरोपण करना, द्रव्य निक्षेप है। जैसे मृत साधु में तथा किसी साधु होने से पूर्व, साधु होने वाले को द्रव्य साधु मानकर उसकी दीक्षा का महोत्सव बड़ी धुमधाम से मनाया जाता है तथा साधु के मृत शरीर की दाह-क्रिया के समय उसे पालकी में बिठाकर, पैसे उछालते हुए बड़े ठाट-बाट से ले जाया जाता है और लोग भी इनके दर्शन के लिये दौड़-दौड़ कर आते है।

श्री तीर्थंकरदेवों के जन्म तथा निर्वाण के समय वन्दन, नमस्कार करने का पाठ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों में है तो वह नमस्कार श्री तीर्थंकरदेव के द्रव्य निक्षेप को हुआ गिना जाता है न कि भावनिक्षेप को, क्योंकि जब तक केवलज्ञान नहीं हो, तब तक भावनिक्षेप नहीं कहलाता। भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी के जन्म समय शक्रेन्द्र के नमस्कार करने का उल्लेख श्री जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में बताया हुआ है तथा उसी सूत्र में कहा है कि शक्रेन्द्र ने *श्री हरीणेगमेषी देव के द्वारा अपने हित एवं सुख के लिए श्री तीर्थंकरदेव का जन्ममहोत्सव* करने हेतु वहाँ जाने का अपना अभिप्राय देवताओं को बताया था।

यह सुनकर मन में प्रसन्न होकर कई देवता वन्दन करने, कई पूजा करने, कई सत्कार करने, कई सम्मान करने, कई कौतुक देखने, कई जिनेश्वरदेव के प्रति भक्तिराग निमित्त, कई शक्रेन्द्र के वचनपालन के लिए, कई मित्रों की प्रेरणा से, कई देवियों के कहने से, कई अपना आचार समझकर (जैसे सम्यग्दृष्टि देवों को श्री जिनेश्वरदेव के जन्म-महोत्सव में अवश्य भाग लेना चाहिए) इत्यादि कारणों को अपने चित्त में स्थापन कर बहुत से देवीदेवता शक्रेन्द्र के पास आये। यदि द्रव्यनिक्षेप अपूजनीय अथवा निरर्थक होता तो सूत्र में सुख के लिए तथा भक्ति के निमित्त आदि शब्द वन्दना के अधिकार में कदापि नहीं आते।

ऐसे ही श्री ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण के समय भी शक्रेन्द्र का आसन कम्पायमान होने पर अवधिज्ञान से भगवान का निर्वाण समय जानकर शक्रेन्द्र ने भगवान को वन्दन नमस्कार किया तथा सर्व सामग्री सहित श्री अष्टापद तीर्थ पर, जहाँ भगवान का शरीर था, आकर उदासीनतापूर्वक अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्री तीर्थंकरदेव के शरीर की तीन प्रदक्षिणा दी। मृतक के योग्य सारी विधि की, इत्यादि शास्त्रप्रमाण भी द्रव्यनिक्षेप की वन्दनीयता को सिद्ध करते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरी तरह से भी द्रव्यनिक्षेप और उसकी पूजनीयता की सिद्धि होती है। श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में तथा वर्तमान काल में आवश्यक क्रिया करते समय साधुश्रावक तमाम चतुर्विशति स्तव (यानी लोगस्स सूत्र) का पाठ बोलते हैं।

श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में, शेष तेईस तीर्थंकरों के जीव, चौरासी लाख जीवयोनि में भटकते थे इसलिये उनको उस समय किया हुआ नमस्कार भावनिक्षेप से किया हुआ नहीं गिना जा सकता किन्तु द्रव्यनिक्षेप से ही किया हुआ गिना जाता है। वर्तमान काल में तो इनमें से एक भी भावनिक्षेप में नहीं है क्योंकि सभी सिद्धगति में गये होने से भावनिक्षेप में अरिहन्त रूप में नहीं परन्तु सिद्ध रूप में ही बिराजमान हैं। जो एक भावनिक्षेप को मानकर दूसरे नाम, स्थापना व द्रव्यनिक्षेप को मानने का निषेध होता तो 'लोगस्स' द्वारा किसको नमस्कार किया जाय?

लोगस्स में प्रकट रूप से **'अरिहंते कित्तइस्सं'** और **'चउवीसंपि केवली'** कहकर चौबीसों तीर्थंकरों को याद किया है। तीर्थंकरों का यह स्मरण भावनिक्षेप से नहीं, परन्तु नाम तथा द्रव्यनिक्षेप से ही मानने का है। जो इन दो निक्षेपों को मानने के लिए तैयार नहीं, उनके मत से 'लोगस्स' को मानने का रहता ही नहीं तथा 'लोगस्स' नहीं मानने से आज्ञाभंग का महादोष लगे बिना भी नहीं रहता।

पुनः साधु-साध्वी के प्रतिक्रमणसूत्र में भी कहा है कि श्री ऋषभदेवस्वामी से श्री महावीरस्वामी तक चौबीसों तीर्थंकरों को नमस्कार हो।

इसमें भी इन नामों के तीर्थंकर भावनिक्षेप से वर्तमान में कोई नहीं है, पर द्रव्यनिक्षेप से हैं। द्रव्यनिक्षेप नहीं मानने वाले को प्रतिक्रमण भी आवश्यक मानने का नहीं रहता और इससे भी आज्ञाभंग का महादोष लगता है।

भावनिक्षेप का विषय अमूर्त होने से अतिशय ज्ञानियों के सिवाय अन्य कोई भी इसे साक्षात् पहचान व समझ नहीं सकते हैं। इसी कारण श्री जैनसिद्धान्त में सम्पूर्ण क्रियाओं का नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र इन चार द्रव्यप्रधान नयों की मुख्यता से ही वर्णन किया गया है। द्रव्य निक्षेप की प्रधानता वाली क्रियाओं को यदि व्यर्थ माना जाता है, तो जैनमत का लोप ही हो जाता है।

जैनसिद्धान्त को मानने वालों को द्रव्यार्थिक चारों नयों को मान्य रखकर द्रव्य-क्रिया का आदर करना उचित है। द्रव्यनिक्षेप की प्रधानता वाली क्रियाएँ परिणाम की धारा को बढ़ाने वाली हैं, जिससे भाव का परिपूर्ण निश्चय हुए बिना भी व्रतपच्चक्खाण आदि कराने की रीति श्री जैनशासन में चल रही है। श्री अनुयोगद्वार, श्री ठाणांग, श्री भगवतीजी तथा श्री सूत्रकृतांग आदि अनेक सूत्रों में द्रव्यनिक्षेप की सिद्धि की हुई है और इस बात को सप्रमाण सावित कर दिया है कि द्रव्य के विना भाव कदापि सम्भव नहीं है।

परोपकारी महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने स्वोपज्ञवृत्ति सहित रचे हुए श्री 'प्रतिमाशतक' महाग्रन्थ में फरमाया है कि -

नामदित्रयमेव भावभगवत्ताद्रूप्यधीकारणम् ।
शास्त्रात्स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः ।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां, भावं पुरस्कुर्वता -
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः? ॥1॥

भाव-भगवन्त की तद्रूपपने की बुद्धि का कारण - नाम, स्थापना और द्रव्य - ये तीन ही हैं। शुद्ध हृदयवालों को यह बात शास्त्रप्रमाण से तथा स्वानुभव के निश्चय से बारम्बार प्रतीत हो चुकी है। इस कारण श्री अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा का आदर किये बिना ही श्री अरिहन्त परमात्मा के भाव को आगे बढ़ाने वालों की बुद्धि, अन्धे व्यक्तियों के दर्पण में देखने की बुद्धि के समान हास्यास्पद है।

इससे भी यह सिद्ध होता है कि भगवान की भावावस्था अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय तथा मन के लिए अगोचर है। उसे इन्द्रिय तथा मानसगोचर करने के लिए उनका नाम, आकार तथा द्रव्य का आलम्बन, यही एक साधन है। नाम, आकार और द्रव्य की भक्ति को छोड़कर केवल भाव की भक्ति करना या होना असम्भव है।

4. भाव निक्षेप

जिन-जिन नामवाली वस्तुओं में जो-जो क्रियायें सिद्ध हैं उन-उन क्रियाओं में वे-वे वस्तुएँ वर्तती हों तब वह भावनिक्षेप कहलाता है - जैसे कि उपयोग सहित आवश्यक क्रिया में प्रवृत्त साधु भावनिक्षेप से आवश्यक गिना जाता है। प्रत्येक वस्तु का स्वरूप इस प्रकार चारों निक्षेपों से जाना जा सकता है। उनमें से यदि एक भी निक्षेप अमान्य हो तो वह वस्तु, वस्तु के रूप में टिकती ही नहीं।

जिस वस्तु को जिस भाव से माना जाता है उसके चारों निक्षेप उसी भाव को प्रकट करते है। शुभ भाव वाली वस्तु के चारों निक्षेप शुभभाव को प्रकट करते हैं। मित्रभाव वाली वस्तु के चारों निक्षेप मैत्रीभाव को उत्पन्न करते हैं। कल्याणकारी वस्तु के चारों निक्षेप कल्याणभाव को पैदा करते हैं और अकल्याणकारी वस्तु के चारों निक्षेप अकल्याणभाव को पैदा करते हैं।

इस संसार में सामान्य रूप से सारी वस्तुएँ हेय, ज्ञेय और उपादेय, इन तीनों में से किसी एक भेद वाली होती है। उदाहरण स्वरूप - स्त्रीसंग। साधुओं को स्त्रियों का साक्षात् संग निषिद्ध है। साक्षात् संग हेय है, अतः स्त्रियों का नाम, आकार एवं द्रव्य भी निषिद्ध हो जाता है। साधु पुरुषों के लिए स्त्रियों का भावनिक्षेप जिस प्रकार वर्जित है उसी प्रकार नामनिक्षेप से स्त्रीकथा का भी निषेध है; स्थापनानिक्षेप से स्त्री की चित्रित मूर्ति को देखने का

भी निषेध है तथा द्रव्यनिक्षेप से स्त्री की पूर्वापर बाल्यावस्था तथा मृतावस्था आदि का स्पर्श भी निषिद्ध है। इस प्रकार हेय रूप वस्तु के चारों निक्षेप हेय रूप बनते हैं। केवल भावनिक्षेप को मानने वाले स्त्री के भावनिक्षेप को छोड़कर शेष तीनों निक्षेपों का आदर कदापि नहीं कर सकते।

इस प्रकार ज्ञेय वस्तु के भावनिक्षेप जिस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति में निमित्त बन सकते हैं उसी प्रकार चारों निक्षेप ज्ञान-प्राप्ति में निमित्त बन सकते हैं।

जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, मेरु पर्वत, हाथी, घोड़ा आदि ज्ञेय वस्तुएँ हैं। उनको जिस प्रकार साक्षात् देखने से बोध होता है, उसी प्रकार उनके नाम आकार आदि देखने-सुनने से भी उन वस्तुओं का बोध होता है। हेय तथा ज्ञेय की भाँति उपादेय वस्तुएँ भी चारों निक्षेपों से उपादेय बनती हैं। श्री तीर्थंकर देव जगत् में परम उपादेय होने से उनके चारों निक्षेप भी परम उपादेय बन जाते हैं।

समवसरण में बिराजमान साक्षात् श्री तीर्थंकरदेव भावनिक्षेप से पूजनीय हैं इसलिए 'महावीर' इत्यादि के नाम की भी लोग पूजा करते हैं। वैराग्य मुद्रा से युक्त ज्ञानारुढ़ उनकी प्रतिमा को भी लोग पूजते हैं तथा द्रव्यनिक्षेप से उनकी बाल्यावस्था की पूर्व अवस्था तथा निर्वाणदशा की उत्तरअवस्था को भी इन्द्र आदि देव भक्तिभाव से नमन करते हैं, पूजा करते हैं तथा उसका सत्कार करते हैं। इसके विपरीत अन्य देवों का भावनिक्षेप त्याज्य होने से उनके शेष तीनों निक्षेप भी सम्यग्दृष्टि आत्माओं के लिए त्याज्य बन जाते हैं और इसी कारण आनन्द आदि दस श्रावकों ने वीतराग को छोड़कर अन्य देवों को वन्दन नमस्कार नहीं करने की प्रतिज्ञा ली थी। उस समय वीतराग के सिवाय अन्य देव भावनिक्षेप से विद्यमान नहीं थे पर केवल उनकी मूर्तियाँ थी। अत: आनन्दादिक श्रावकों की नमन नहीं करने की प्रतिज्ञा उनकी मूर्तियों को लक्ष्य करके ही थी, यह अपने आप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार वीतराग के सिवाय अन्य देवों की मूर्तियों को नमन करने का निषेध जिनमूर्ति को नमस्कार करने के विधान को अपने आप ही सिद्ध कर देता है।

यदि कोई रात्रिभोजन के त्याग के नियम को अंगीकार करता है, तो दिन में भोजन करने की उसकी बात स्वत: ही सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार चारों निक्षेपों का परस्पर सम्बन्ध समझ लेने का है। उसमें विशेष बात यही है कि जिसके भावनिक्षेप शुद्ध और वन्दनीय है उसके ही शेष निक्षेप वन्दनीय और पूजनीय हैं, दूसरों के नहीं।

इस पर से कोई ऐसा प्रश्न करे कि - 'मरे हुए बैल को देखकर किसी को प्रतिबोध हो जाय तो क्या वह पूजनीय बन जाता है?' तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि जिसका भावनिक्षेप वन्दन-पूजन योग्य है, उसी के शेष तीनों निक्षेपों की पूजा के लिए शास्त्रकार फरमाते हैं। साक्षात् बैल को किसी ने भी पूजा योग्य नहीं माना और इसीसे उसका नाम आदि भी पूजनीय नहीं होता है। राजा करकंडू आदि प्रत्येकबुद्ध महर्षि ने अतिवृद्ध बैल को देखकर प्रतिबोध प्राप्त किया था, पर भाव बैल वन्दनीय नहीं होने से उनके प्रतिबोध में कारणभूत बैल के नामादिक वन्दन करने योग्य नहीं गिने गए।

11

आपके सवाल हमारे जवाब

(तात्त्विक - तार्किक - शास्त्रीय और बुद्धिगम्य प्रश्नों के उत्तर)

प्रश्न 1 - स्त्री का चित्र साधु को नहीं देखना चाहिए, ऐसा फरमान किस सूत्र में है?

उत्तर - श्रुतकेवली आचार्य भगवान श्रीमद् शय्यंभवसूरि महाराजा द्वारा रचित श्री दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्याय में फरमाया है कि -

जिसमें स्त्री की मूर्ति हो ऐसी चित्र वाली दीवार को नहीं देखना तथा अलंकारयुक्त अथवा अलंकाररहित स्त्री को भी नहीं देखना। अचानक दृष्टिपात हो जाय तो सूर्य को देखकर जिस प्रकार दृष्टि नीची कर ली जाती है, उसी प्रकार दृष्टि नीची कर लेनी चाहिए। स्त्री का चित्र देखकर मोह उत्पन्न होता है। इसलिए उसका जिस प्रकार निषेध किया गया है, उसी प्रकार वीतराग परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन से वीतराग दशा का साक्षात्कार होता है; अत: वीतराग अवस्था की प्राप्ति के अभिलाषी को भी वीतराग परमात्मा के सदैव दर्शन आदि करने की आवश्यकता बतलाई गई है।

प्रश्न 2 - स्त्री की मूर्ति देखकर प्रत्येक को काम-विकार उत्पन्न होता दिखाई देता है, परन्तु प्रतिमा को देखकर वैराग्यभाव सभी को उत्पन्न होता हो, ऐसा तो दिखाई नहीं देता है, इसका क्या कारण है?

उत्तर - जिनको प्रतिमा पर द्वेष अथवा दुर्भाव है उनको वीतराग की मूर्ति देखने पर भी शुभभाव प्रकट होना कठिन है परन्तु जो लघुकर्मी जीव हैं उनको तो श्री वीतरागदेव की शान्त मुद्रा के दर्शन के साथ ही रोम-रोम में प्रेम उमड़े बिना नहीं रहता। मुनि की शान्त मूर्ति को देखकर भी किसी पापी आत्मा के मन में जिस प्रकार भक्तिभाव उत्पन्न नहीं होता है, वैसे ही जिसको मूर्ति के प्रति द्वेष या दुर्भाव होता है, ऐसी आत्मा को मूर्ति के दर्शन से भी भक्तिभाव उत्पन्न नहीं हो, यह स्वाभाविक है। जगत् का सामान्य नियम तो ऐसा है कि गुणवान की मूर्ति देखकर उनके जैसे गुणों को प्राप्त करने की उत्कण्ठा हुए बिना नहीं रहती, पर उसमें भी अपवाद होते है।

श्री आचारांग सूत्र में फरमाया है कि -

"जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा।"

अर्थात् - परिणाम की दृष्टि से जो आस्रव के कारण होते हैं; वे संवर के कारण बनते हैं तथा जो संवर के कारण होते हैं; वे आस्रव के कारण बनते हैं।

इलाचिपुत्र पाप के इरादे से घर से निकले थे तथापि उन्होंने परिणाम की विशुद्धता से वाँस की डोरी पर नाच करते समय केवलज्ञान प्राप्त किया था।

भरत चक्रवर्ती का काच के भुवन में रूप देखने जाना आस्रव का कारण था; पर मुद्रिका के गिरने से शुभ भावनाओं में आरूढ़ होते ही उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

इसी प्रकार साधु मुनिराज संवर एवं निर्जरा के कारण हैं, फिर भी उनको दुःख देने, उनका बुरा विचारने तथा उनकी निन्दा आदि करने से जीव अशुभ कर्म का आस्रव करता है, परन्तु इससे साधु मुनिराज की पूज्यता नष्ट नहीं हो जाती। साक्षात् भगवान श्री महावीरदेव को देखकर भी संगमदेव तथा ग्वाले आदि के अशुभ परिणाम हुए, इसमें कारण उनका अशुभ भाव ही है। एक कवि ने कहा है कि

> पत्रं नैव यदा करीरविटपे, दोषो वसन्तस्य किं,
> उल्लूको न विलोकते यदि दिवा, सूर्यस्य किं दूषणम्।
> वर्षा नैव पतन्ति चातकमुखे, मेघस्य किं दूषणं,
> यद्भाग्यं विधिना ललाटलिखितं, दैवस्य किं दूषणम् ।।

करीर के वृक्ष पर पत्ते नहीं आते, उसमें वसन्त ऋतु का क्या दोष? उल्लू को दिन में दिखाई नहीं देता तो इसमें सूर्य का क्या दोष? वर्षा की बूँदे चातक के मुख में नहीं गिरती तो इसमें मेघ का क्या दोष? तथा इसी प्रकार ललाट पर लिखे भाग्यानुसार फल भोगना पड़े तो इसमें दैव का भी क्या दोष माना जाय?

इसी प्रकार श्री देवाधिदेव की मूर्ति तो शुभ भाव का ही कारण है तथापि उनके द्वेषी, दुष्ट परिणामी तथा हीनभागी जीवों को भाव उत्पन्न न हो तो वास्तव में उन्हींकी कम-नसीबी है। सूर्य के सामने कोई धूल डाले अथवा सुगन्धित पुष्प फेंके, दोनों फेंकने वाले की ओर ही लौटते हैं। अथवा कठोर दिवार पर कोई मणि या पत्थर फेंके तो वे वस्तुएँ फेंकने वाले की ओर ही वापिस आती हैं, अथवा चक्रवर्ती राजा की कोई निन्दा या स्तुति करें तो उससे उसका कुछ बिगड़ता-बनता नहीं; पर निन्दक स्वयं दुःख का भागी बनता है एवं प्रशंसक स्वयं उत्तम फल प्राप्त करता हैं।

दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो जिस प्रकार पथ्य-आहार लेने से खाने वाले को सुख मिलता है और अपथ्य भोजन करने से भोजन करने वाले को दुःख मिलता हैं, पर आहार में काम में ली हुई वस्तु को कुछ नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार परमात्ममूर्ति की स्तुति, भक्ति अथवा निन्दा करने से अलिप्त ऐसे परमात्मा पर कुछ भी असर नहीं होता है परन्तु निन्दक स्वयं दुर्गतियोग्य कर्म उपार्जित करता है व पूजक शुभ कर्म का उपार्जन कर स्वयं

सद्‌गति का पात्र बनता है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि ब्रह्मचारी महात्माओं को स्त्री की मूर्ति देखने का निषेध किया है परन्तु साक्षात स्त्री के हाथ से आहार-पानी लेने का निषेध नहीं किया। स्त्रियाँ दर्शन-वन्दन करने आवें, घंटों तक व्याख्यान सुनने बैठी रहें, धर्मचर्चा सम्बन्धी शंका-समाधान अथवा वार्तालाप करें, आदि कार्यों में स्त्री का साक्षात् परिचय होते हुए भी निषेध नहीं किया, पर स्त्री के चित्रांकन वाले मकान में रहने का निषेध किया है, इसका क्या कारण?

चित्र में अंकित स्त्री की आकृति मात्र से कोई आहार-पानी मिल नहीं सकता या वार्तालाप हो नहीं सकता है। चित्रांकित स्त्री उठकर स्पर्श भी नहीं कर सकती, फिर भी शास्त्रकारों ने उसे निषिद्ध बताया है। इसके पीछे कारण केवल इतना ही है कि स्त्री के चित्र अथवा मूर्ति की ओर चित्त की जैसी एकाग्रता होती है, मन में दूषित भाव उठते हैं, धर्मध्यान में बाधा पहुँचती है तथा कर्मबन्धन होने के प्रसंग उपस्थित होते हैं, वैसे धर्म के निमित्त साक्षात् सम्पर्क में आने वाले प्रसंगों में सम्भव नहीं है, इसका कारण यह है कि वहाँ अशुभ मार्ग में चित्त को एकाग्र करने का अवसर साधु को कठिनाई से मिलता है जबकि मकान में स्त्री की मूर्ति होने पर उस ओर टकटकी नजर से बारम्बार देखने का तथा उसमें चित्त के एकाग्र तथा लीन बनने की ज्यादा सम्भावना रहती है तथा परिणामस्वरूप मन में विकार उत्पन्न होते हैं, ऐसे अनिष्टों का पूरा-पूरा भय रहता है।

सूत्रकार महर्षियों की आज्ञा निष्प्रयोजन अथवा विचार रहित नहीं हो सकती। इस पर से यह निश्चित हो जाता है कि मन को स्थिर कर शुभ ध्यान में लाने के लिए शुभ और स्थिर आलम्बन की विशेष आवश्यकता है। ऐसा स्थिर एवं शुभ आलम्बन श्री जिनराज की शान्त मूर्ति के सिवाय दूसरा एक भी नहीं।

इससे दूसरी बात यह भी सिद्ध होती है कि उत्तम ध्यान एवं मन की एकाग्रता करने की अपेक्षा श्री जिनमूर्ति की श्रेणी साक्षात् जिनराज से भी बढ़ जाती है और इसी कारण श्री रायपसेणी आदि शास्त्र-ग्रन्थों में साक्षात् तीर्थंकरदेव को वन्दन नमस्कार करते समय 'देवयं चेइयं' जैसे पाठ हैं अर्थात् जैसी मैं जिनप्रतिमा की भक्ति करता हूँ वैसी ही अन्तरंग प्रीति से आपकी (साक्षात् अरिहन्त की) भक्ति करता हूँ। पुनः साक्षात भगवान को नमस्कार करते समय -

'सिद्धिगइ नामधेयं, ठाणं संपाविउ कामस्स।'

अर्थात् - 'सिद्धिगति नाम के स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले' इस प्रकार बोला जाता है और श्री जिनप्रतिमा के आगे -

'सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं संपत्ताणं।'

अर्थात् - "सिद्धिगति नाम के स्थान पर पहुँचे हुए" इस प्रकार कहने में आता है। इन पाठों आदि का सच्चा रहस्य समझ कर पूर्वाचार्यों द्वारा अत्यन्त आदर सहित प्रमाणिक की हुई श्री जिनप्रतिमा का आदर करना चाहिए।

प्रश्न 3 - क्या कोई ऐसा शास्त्रीय प्रमाण है कि स्थाप्य की स्थापना किये बिना कोई भी धर्मक्रिया हो ही नहीं सकती?

उत्तर - श्री जैनधर्म में समस्त धर्मक्रियाएँ स्थापना के सम्मुख ही करनी चाहिए, इसके लिए अनेक सूत्रों के प्रमाण हैं। जैसे देव के अभाव में देव की मूर्ति चाहिए। वैसे ही गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना करनी चाहिए। दुषम काल में सूर्य समान पूर्वधर आचार्य भगवान श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण महाराज स्वरचित श्री विशेषावश्यक महाभाष्य में गुरु-अभाव में गुरु की स्थापना करने के विषय में निम्नलिखित गाथा द्वारा फरमाते हैं -

गुरुविरहंमि ठवणा गुरुवएसोवदंसणत्थं च।
जिणविरहंमि जिणबिंबसेवणामंतणं सहलं ॥1॥

श्री ठाणांग सूत्र में भी दस प्रकार की स्थापना बताई है। उसकी स्थापना कर 'पंचिंदिय' सूत्र से उसमें गुरु महाराज के गुणों का आरोपण कर उसके आगे धर्मक्रिया करना उचित है। स्थापना में मुख्य स्थापना 'अक्ष' की करते हैं। वह तीन, पाँच, सात या नौ आवर्त वाला हो तो उत्तम गिना जाता है। उसका फल श्री भद्रबाहुस्वामी कृत 'स्थापना कुलक' में विस्तार से बताया गया है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने भी स्थापना की सज्झाय बतलाई है। उसमें भी इसका फल तथा विधि बताई है।

पूर्वोक्त 'अक्ष' का योग न बने तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरण जैसे कि पुस्तक, नवकारवाली आदि में स्थापना करने का विधान किया हुआ है।

आवश्यक धर्मक्रियाओं में स्थान-स्थान पर गुरु महाराज की आज्ञा मांगनी पड़ती है तो वह क्रिया करते समय साक्षात् गुरु न होने की स्थिति में उनकी स्थापना बिना कैसे काम चल सकता है?

श्री समवायांग सूत्र में बारहवें समवाय में गुरुवन्दन के पच्चीस बोल पूरे करने का आदेश है। उसका पाठ निम्नांकित है - दुवालसावत्ते कित्तिकम्मे पन्नते, तं जहा।

दुओणयं जहाजायं कित्तिकम्मं बारसावय ।
चउसिरं तिगुत्त, दुप्पवेसं एगनिक्खमणं ॥1॥

अर्थात् वन्दन क्रिया में बारह आवर्त्त फरमाए हैं, वे इस प्रकार हैं : अवनत अर्थात् दो बार मस्तक झुकाना और एक यथाजात अर्थात् जन्म तथा दीक्षा ग्रहण करते समय की मुद्रा धारण करनी। बारह आवर्त अर्थात् प्रथम के प्रवेश में छह तथा दूसरे प्रवेश में छह। ये 'अहो कायं कायसंफासं।' आदि पाठ से करना चाहिए।

चार बार सिर अर्थात् पहले तथा दूसरे प्रवेश में दो-दो बार सिर झुकाना, त्रि गुप्त अर्थात् मन-वचन-काया इन तीनों से वन्दना सिवाय दूसरा कार्य न करना, दो प्रवेश अर्थात् गुरुमहाराज की सीमा में प्रवेश करना और एक निष्क्रमण अर्थात् गुरुमहाराज की सीमा में प्रवेश रूप अवग्रह से बाहर निकलना, इस प्रकार कुल पच्चीस बोल हुए, उसमें गुरुमहाराज की हद में दो बार प्रवेश करना और एक बार निकलना यह प्रत्यक्ष गुरु के अभाव में उनकी स्थापना बिना किस प्रकार सम्भव है?

वन्दन के पाठ में गुरुमहाराज की आज्ञा मांगकर भीतर प्रवेश करने की स्पष्ट आज्ञा है, जैसे कि -

''इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि अहो कायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो।''

अर्थात् - मेरी यह इच्छा है कि हे क्षमाश्रमण! वन्दन हेतु पाप-व्यापार से रहित शरीर की शक्ति से मित अवग्रह अर्थात् साढ़े तीन हाथ प्रमाण क्षेत्र में प्रवेश करने की मुझे आज्ञा प्रदान करो। उस समय गुरु की आज्ञा लेकर शिष्य 'निसीहि' अर्थात् गुरुवन्दन सिवाय अन्य क्रिया का निषेध कर अवग्रह में प्रवेश करे और दोनों हाथ मस्तक पर लगाकर गुरु के चरण स्पर्श करते हुए 'अहो कायं कायसंफासं!' आदि पाठ कहे, जिसका अर्थ है - 'हे भगवन्त! आपकी अधोकाया अर्थात् चरण-कमल को मेरी उत्तम काया अर्थात् मस्तक द्वारा स्पर्श करते समय आपको जो कष्ट पहुँचाया हो उसे क्षमा करो।'

इस प्रकार अनेक स्थानों पर गुरु महाराज की आज्ञा मांग कर क्रिया करने की होती है। ऐसी क्रिया गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना बिना कैसे हो सकती है?

यदि कहोगे कि गुरु-अवस्था की आकृति की मन में कल्पना कर आज्ञा आदि मांगुंगा तब तो स्थापना निक्षेप का सहज रूप से स्वीकार हो गया। फिर मृत्यु उपरान्त अन्य गति में गये हुए गुरुओं को याद करके उनका गुणगान करने में आता है, तो उसको किस निक्षेप के अधीन समझेंगे? गुरुपने का भाव निक्षेप तो उस समय उपस्थित होता ही नहीं है। भावनिक्षेप से तो गुरु अन्य गति में हैं। इतना होने पर भी 'गुरुपने की पूर्ण अवस्था की मन में कल्पना करके गुणगान आदि करने में आता है', ऐसा कहने से स्थापना निक्षेप एवं द्रव्य निक्षेप दोनों का सहज स्वीकार हो जाता है।

प्रश्न 4 - श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में शेष तेईस तीर्थंकरों के जीव संसार में थे; फिर भी उस समय उनको वन्दन करने में धर्म कैसे हो सकता है?

उत्तर - श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में अन्य तेईस तीर्थंकरों के वन्दन का विषय द्रव्यनिक्षेप के आधीन है। द्रव्य बिना भाव, स्थापना अथवा नाम कुछ भी नहीं हो सकता। श्री

ऋषभदेव स्वामी ने जिन जीवों को मोक्षगामी बताया, वे सभी पूजनीय हैं।

जिस प्रकार धनाढ्य साहूकार के हाथ से लिखी हुई, उसके हस्ताक्षर व मोहर वाली; अवधि विशेष की हुंडी हो तो उसकी अवधि पूर्ण होने के पूर्व भी रकम से काम निकाला जा सकता है, उसी प्रकार मोक्षगामी भव्य जीवों की ऋषभदेव स्वामी द्वारा दी हुई विश्वस्तता रूपी हुंडी को कौनसा विचारशील व्यक्ति अस्वीकार करेगा?

भगवान के वचन-विश्वास रूपी प्रबल कारण को लेकर बाकी के तेईस तीर्थंकर, प्रथम तीर्थंकर के समय में भी वन्दनीय थे। इस सम्बन्ध में श्री आवश्यक सूत्र में मूल पाठ भी है कि -

'चत्तारि-अट्ठ-दस-दोय, वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं।'

अर्थात् - चारों दिशाओं में क्रम से चार, आठ, दस और दो इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों के बिम्ब श्री भरत महाराजा ने अष्टापद पर्वत पर स्थापित किये हैं। इस विषय में निर्युक्तिकार श्रुतकेवली आचार्य भगवान श्रीमद् भद्रबाहुस्वामीजी महाराज ने समाधान किया है कि भरत राजा ने श्री ऋषभदेव स्वामी को भावी में होने वाले तेबीस तीर्थंकरों के नाम, लक्षण, वर्ण, शरीर का प्रमाण आदि पूछकर उसी के अनुसार, अष्टापद गिरि पर श्री जिनमन्दिर बनाकर सभी तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ ठीक वैसे ही आकार की स्थापित की थीं।

इससे सिद्ध होता है कि तेईस तीर्थंकरों के होने से पूर्व भी उनकी पूजा तथा मूर्ति तथा मन्दिर द्वारा उनकी भक्ति करने की प्रथा सनातन काल से चली आ रही है और इसे महान् ज्ञानी पुरुषों ने स्वीकार भी किया है।

प्रश्न 5 - 'सिद्धायतन' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर - 'सिद्धायतन' गुणनिष्पन्न नाम है। इसका अर्थ जिनमन्दिर होता है। 'सिद्ध' अर्थात् सिद्ध भगवान की प्रतिमा और 'आयतन' अर्थात् घर। अर्थात् जिनघर या जिनमन्दिर वैताढ्यपर्वत, चुलघुहिमवंत पर्वत, मेरु पर्वत, श्री मानुषोत्तर पर्वत, श्री नन्दीश्वर द्वीप, श्री रुचक द्वीप आदि पर्वत तथा द्वीपों पर अनेक शाश्वत जिनमूर्तियों वाले मन्दिरों के होने का प्रमाण श्री जीवाभिगम तथा श्री भगवती आदि सूत्रों में स्पष्ट बताया है और उन सूत्रों को तमाम जैन जानते हैं।

प्रश्न 6 - कई लोग श्री जिनप्रतिमा से जिनबिम्ब नहीं लेकर, श्री वीतरागदेव के नमूने के समान साधु को ग्रहण करते हैं, क्या यह उचित है?

उत्तर - उनकी यह मान्यता झूठी एवं कल्पित है। सूत्रों में स्थान-स्थान पर श्री जिनप्रतिमा, जिनवर तुल्य कही गई है। श्री जीवाभिगम आदि सूत्रों में जहाँ-जहाँ शाश्वती प्रतिमा का अधिकार है, वहाँ-वहाँ 'सिद्धायतन' अर्थात् 'सिद्ध भगवान का मन्दिर' कहा है।

परन्तु 'मूर्ति-आयतन' अथवा 'प्रतिमा-आयतन' नहीं कहा है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि श्री सिद्ध की प्रतिमा सिद्ध के समान।

श्री रायपसेणी सूत्र तथा **श्री जीवाभिगम सूत्र** में श्री सूर्याभ देवता तथा श्री विजयपोलीआ की द्रव्यपूजा का अधिकार ''धूवं दाऊणं जिणवराणं' अर्थात् 'श्री जिनेश्वरदेव को धूप करके' कहा है। इससे भी श्री जिनप्रतिमा जिनवर समान मानी गई है, यह सिद्ध होता है।

पुनः श्री रायपसेणी, श्री दशाश्रुतस्कन्ध और श्री उववाई आदि अनेक सूत्रों में तीर्थंकर को वन्दन के लिए जाते समय श्रावकों के अधिकार में कहा है कि - **'देवयं चेइयं पज्जुवासामि'** अर्थात् देवसम्बन्धी चैत्य अर्थात् श्री जिनप्रतिमा, उनके सामने मैं पर्युपासना करूंगा। ऐसे अनेक स्थलों पर भाव तीर्थंकर तथा स्थापना तीर्थंकर की एक समान पर्युपासना करने का पाठ है; जिससे दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

भाव या स्थापना दोनों में से किसी की भी भक्ति और पूजा जिस भाव से की जाती है, तदनुसार फल की प्राप्ति होती है।

श्री ज्ञातासूत्र में द्रौपदी के पूजन के अधिकार में श्री 'जिनमन्दिर' को श्री 'जिनगृह' कहा है पर 'मूर्ति-गृह' नहीं कहा। इस पर से भी श्री जिनमूर्ति को ही जिन की उपमा घटती है न कि साधु की। साधु वस्त्र, पात्र, रजोहरण और मुहपत्ति आदि उपकरण सहित है जबकि भगवान के पास इनमें से कुछ भी नहीं होता। भगवान रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठते हैं, उनके दोनों ओर चँवर ढाले जाते हैं, पीछे भामण्डल रहता है, आगे देवदुन्दुभि बजती है, देवता पुष्पवृष्टि करते हैं इत्यादि अतिशयों से युक्त भगवान होते हैं। साधु के पास इनमें से कुछ भी नहीं होता है। तब फिर साधु की श्री वीतराग से तुलना कैसे कर सकते हैं?

पर्यंकासन पर बिराजमान सौम्य दृष्टि वाली वीतराग अवस्था की प्रतिमा तो श्री अरिहन्त भगवान के तुल्य है। वीतराग की मूर्ति को वीतराग का नमूना कहा जाता है, साधु का नहीं। साधु के नमूने को ही साधु कहा जाता है। श्री अंतगडदशा सूत्र में कहा है कि 'हरिणगमेषी की प्रतिमा की आराधना करने से वह देव आराध्य बन गया' इसी प्रकार श्री वीतराग की मूर्ति की आराधना करने से श्री वीतरागदेव आराध्य बन जाते हैं।

प्रश्न 7 - श्री जिनप्रतिमा को जिनराज समझकर नमस्कार करो तो वह नमस्कार मूर्ति को हुआ, भगवान को नहीं, क्योंकि भगवान तो मूर्ति से भिन्न हैं। मूर्ति को नमस्कार करने से भगवान को नमस्कार नहीं होता और भगवान को नमस्कार करने से मूर्ति को नमस्कार नहीं होता। इसका क्या समाधान है?

उत्तर - मूर्ति और भगवान सर्वथा भिन्न नहीं है। इन दोनों में कुछ समानता है। श्री

जिनमूर्ति को नमस्कार करते समय श्री जिनेश्वर भगवान का भाव लाकर नमस्कार किया जाता है अतः दोनों भिन्न नहीं कहे जाते।

जैसे यहाँ बैठे महाविदेहक्षेत्र में बिराजमान श्री सीमन्धर स्वामी को सभी जैन वन्दन-नमस्कार करते हैं, तब राह में लाखों घर, वृक्ष, पर्वत आदि अनेक वस्तुएँ बीच में आती हैं तो नमस्कार उन वस्तुओं को हुआ या श्री सीमन्धर स्वामी को? यदि कहोगे कि नमस्कार करने का भाव भगवान को होने से भगवान को ही नमस्कार हुआ, अन्य वस्तु को नहीं; तथा केवलज्ञान से भगवान भी उस वन्दना को इसी रीति से जानते हैं, उसी तरह मूर्ति द्वारा भी भगवान का भाव लाकर वन्दन-पूजन करने में आए तो उसे क्या भगवान नहीं जानते?

इसी तरह साधु को वन्दन-नमस्कार करते हुए भी उनके शरीर को वन्दन होता है या उनके जीवन को? यदि शरीर को नमस्कार किया जाता हो तो जीव तो शरीर से पृथक् वस्तु है और जो जीव को नमस्कार करने में आता हो तो बीच में काया का अवरोध उपस्थित है और काया जीव से भिन्न पुद्गल द्रव्य है।

यदि कहोगे कि यह पुद्गलद्रव्य साधु का ही है तो फिर मूर्ति भी देवाधिदेव श्री वीतराग प्रभु की है, ऐसा क्यों नहीं सोच सकते हो? मुनि की काया को वन्दन करने से जैसे मुनि को वन्दन होता है वैसे ही श्री वीतराग प्रभु की मूर्ति को वन्दन करने से साक्षात् श्री वीतराग प्रभु को ही वन्दन होता है।

प्रश्न 8 – निराकार भगवान की उपासना ध्यान द्वारा ही सकती है तो फिर मूर्तिपूजा मानने का क्या कारण?

उत्तर – मनुष्य के मन में यह ताकत नहीं कि वह निराकार का ध्यान कर सके। इन्द्रियों से ग्राह्य वस्तुओं का विचार मन कर सकता है। उसके अतिरिक्त वस्तुओं की कल्पना मन में नहीं आ सकती।

जो-जो रंग देखने में आते है, जिन-जिन वस्तुओं का स्वाद लिया जाता है, जिन-जिन वस्तुओं का स्पर्श किया जाता है, जो गन्ध सूंघने में आती है अथवा जो शब्द सुनने में आते हैं, उतने तक का ही विचार मन कर सकता है, उनके अतिरिक्त रंग, रूप अथवा गन्ध आदि का ध्यान, स्मरण अथवा कल्पना करना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है।

यदि किसी ने 'पूर्णचन्द्र' नाम के व्यक्ति का केवल नाम सुना हो, उसे आँखो से देखा भी न हो और न कभी उसका चित्र देखा हो तो क्या नाम मात्र से 'पूर्णचन्द्र' नाम के व्यक्ति का ध्यान आ सकता है? नहीं। उसी प्रकार भगवान को साक्षात् अथवा मूर्ति द्वारा जिसने देखा नहीं हो, वह उनका ध्यान किस प्रकार कर सकता है?

जब-जब ध्यान करना होता है तब-तब कोई-न-कोई वस्तु नजर सम्मुख रखनी ही होती है। भगवान को ज्योतिस्वरूप मान कर उनका ध्यान करने वाला उस ज्योति को श्वेत,

श्याम आदि किसी न किसी रंग वाली मानकर ही उसका ध्यान कर सकता है। सिद्ध भगवन्तों में ऐसा कोई भी पौद्गलिक रूप नहीं है, उनका रूप अपौद्गलिक है जिसे सर्वज्ञ केवलज्ञानी सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकते हैं।

श्री सिद्धचक्र यंत्र में श्री सिद्ध भगवन्तों की लाल रंग की कल्पना की गई है, परन्तु वह केवल ध्यान की सुविधा की दृष्टि से है, वास्तविक नहीं। निराकार सिद्ध का ध्यान अतिशय-ज्ञानी को छोड़कर दूसरा कोई भी करने में समर्थ नहीं है।

कोई कहेगा कि हम मन में मानसिक मूर्ति की कल्पना कर, सिद्ध भगवान का ध्यान करेंगे परन्तु पत्थर जड़ मूर्ति को नहीं मानेंगे। उनका यह कथन भी विवेकशून्य है क्योंकि यदि उनसे पूछा जाय कि तुम्हारी मानसिक मूर्ति का रंग कैसा है? लाल या श्वेत? तो वे क्या उत्तर देंगे? यदि वे कहें कि - 'उसका रूप नहीं, रंग नहीं या कोई वर्ण नहीं है अत: किस प्रकार बताया जाए? तो उन्हे यह कहना चाहिये कि जिसका रूप, रंग अथवा वर्ण नहीं उसका ध्यान करने की तुम्हारे में शक्ति भी नहीं है।'

इस प्रकार प्रत्यक्ष मूर्ति को मानने की बात से छुटकारा पाने के लिए मानसिक मूर्ति मानने से अन्त में ध्यानरहित दशा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब मूर्ति के अभाव में ध्यान बनता ही नहीं, तो प्रकट रूप से मानने में क्या आपत्ति है? मानसिक मूर्ति अदृश्य एवं अस्थिर है जबकि प्रकट मूर्ति दृश्य एवं स्थिर है और इसीलिए ध्यान आदि के लिए अनुकूल है।

साथ ही भगवान श्री तीर्थंकर देवता समवसरण में भी पूर्व की ओर मुख कर बैठते हैं तथा शेष तीनों ओर देवतागण भगवान की तीन मूर्तियों की स्थापना करते हैं, ऐसा श्री समवसरण प्रकरण, श्री समवायांग सूत्रटीका, श्री तत्त्वार्थ सूत्रटीका आदि प्राचीन ग्रन्थ प्रमाणित करते हैं।

कई लोग यह कहते हैं कि 'भगवान के अधिक से अधिक चार मुख दिखाई देते पर तीन और मूर्ति है, ऐसा नहीं है' यह बात भी झूठी है। कारण यह है कि किसी भी शास्त्र में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है।

समवसरण की रचना से भी चित्त की एकाग्रता के लिए मूर्ति की आवश्यकता सिद्ध हो जाती है। भगवान की भव्य मूर्ति के दर्शन से उनके गुण याद आते ही श्रद्धालु लोगों को भगवान के साक्षात्कार जैसा आनन्द प्राप्त होता है तथा मूर्ति को साक्षात् भगवान समझ कर भावयुक्त भक्ति होती है। उस समय भक्ति करने वाले के मन के अध्यवसाय कितने निर्मल होते होंगे तथा उस समय वह जीव कैसे शुभ कर्मों का उपार्जन करता होगा, इसका सच्चा और पूरा ज्ञान सर्वज्ञ के सिवाय अन्य किसी के पास नहीं है।

जो लोग अपनी कल्पना से परमात्मा का मानसिक ध्यान करने का आडम्बर करते हैं,

वे सैकड़ों अथवा हजारों कोस वाहन आदि में बैठकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों का नाश कर अपने गुरु आदि की वन्दना करने के लिए क्यों जाते होंगे? क्या गुरु का मानसिक ध्यान घर बैठे शक्य नहीं है कि जिस कारण गुरु के मूर्तिमय शरीर की वन्दना हेतु, हिंसा करके हजारों कोस जाने की जरूरत पड़ती है।

सांसारिक जीव अनेक चिन्ताओं से ग्रस्त होते हैं। किसी आलम्बन के अभाव में उनको शुभध्यान की प्राप्ति होना आसान नहीं है। अस्थिर मन एवं चंचल इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना बच्चों का खेल नहीं है। किसी वाद्य यंत्र पर गाया हुआ गीत कानों में पड़ते ही चंचल मन उधर चला जाता है। उस समय ध्यान की बातें कहीं उड़ जाती हैं। ऐसी चंचल मनोवृत्ति वाले लोगों के लिए श्री जिनपूजा में लीन हो जाना, यही एक परम ध्यान है।

अनेक चिन्ताओं से युक्त गृहस्थाश्रम में जिनपूजा का अनादर करना, केवल हानिकारक ही है। दुनियादारी की विविध झंझटों में फँसे हुए गृहस्थों के लिए मूर्ति के आलम्बन बिना मानसिक ध्यान होना सर्वथा असम्भव है। श्री जिनपूजा का आदर करके तथा मूर्ति के माध्यम से श्री जिनेश्वरदेव के गुणगान आदि करने से चंचल मन स्थिर होता है तथा स्थिर हुए मन को संसार की असारता आदि का बोध सरलता से कराया जा सकता है। सुख-दुःख में जब तक सम-भाव नहीं आता है, तब तक बड़े-बड़े योगिराजों की तरह आलम्बन-रहित ध्यान की बातें करना व्यर्थ है। जिस समय वह समभाव वाली स्थिति आ जायेगी, आलम्बन स्वतः ही छूट जाएगा।

श्री जैनधर्म के मर्मज्ञ पूर्वाचार्य महर्षियों ने प्रत्येक जीव को अपने गुणस्थानक अनुसार क्रिया अंगीकार करने का आदेश दिया है। वर्तमान में कोई भी जीव सातवें गुणस्थानक से आगे नहीं चढ़ सकता है। जीवन के भिन्न-भिन्न समय में प्राप्त सातवें गुणस्थानक के कुल समय को जोड़ा जाय तो वह एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं बनता। इसलिये वर्तमान के जीवों को ऊँचे से ऊँचा छठे गुणस्थानक तक ही समझना चाहिए। वह गुणस्थानक प्रमादयुक्त होने से उसमें रहने वाले जीव भी निरालम्बन ध्यान करने में असमर्थ है। ऐसा होना पर भी जो लोग छठे गुणस्थानक की सीमा को भी नहीं पहुँच पाये हैं तथा अनेक सांसारिक प्रपंचों में गुँथे हुए हैं, वे निरालम्बन ध्यान की बातों का प्रदर्शन करते हैं, वह केवल आडम्बर है। चौथे, पाँचवे गुणस्थानक में होने के नाते श्रावक, द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की पूजा करने के अधिकारी हैं, जबकि साधु उनसे ऊँचे स्थान अर्थात् छठे गुणस्थानक में होने से केवल भावपूजा के अधिकारी है।

जिस प्रकार व्यावहारिक शिक्षा में पहले क, का आदि फिर बारहखड़ी, उसके बाद शास्त्राभ्यास, ऐसा क्रम है, उसी प्रकार गुणस्थानक की ऊँची दशा में चढ़ते समय क्रिया में भी परिवर्तन होता रहता है। सीढ़ियाँ छोड़कर एकदम छलाँग मारकर भवन के ऊपरी भाग

पर चढ़ने का अविवेक पूर्ण प्रयत्न करने से वह स्थान तो बहुत दूर रह जाता है, परन्तु इसके विपरीत नीचे गिरने से हाथ-पैर अवश्य टूट जाते है।

अब यदि कोई प्रश्न करता है कि संसार पर राग कम किया और भगवान पर राग बढ़ाया तो इसमें भी राग तो कायम ही रहा। जब तक राग-द्वेष-रहित नहीं बनेंगे तब तक मुक्ति कैसे मिल सकती है? यह प्रश्न भी नासमझी का है। पूर्ण रूप से राग रहित होने की शक्ति नहीं आवे तब तक प्रभु के प्रति राग रखने से संसार के अशुभ राग तथा उनसे बंध होनेवाले बुरे कर्मों से बचा जा सकता है। घर बैठे जितनी अनेक प्रकार की वैभाविक चर्चाएँ होती हैं उतनी जिनमन्दिर में नहीं हो सकती।

प्रभु की शान्त मूर्ति के दर्शन से तथा उनके गुणगान में लीन होने से चित्त में दुष्ट भाव तथा बुरे विचार टिक नहीं सकते। इतना ही नहीं परन्तु उन्हें दूर हटाने का एक मुख्य साधन भी प्राप्त हो जाता है। जब तक पूर्ण विशुद्धि प्राप्त न हो, तब तक जीवन को उच्च मार्ग की ओर ले जाने का केवल यही उत्कृष्ट पथ है। जो इस मार्ग में विश्वास नहीं रखते तथा अपने आप को पूर्ण विशुद्ध मानकर समभाव-साधक मानते हैं, उन्हें यह पूछना चाहिए कि यदि तुम वास्तव में राग-द्वेष से परे हो तो तुम अपने गुरु एवं अन्य नेताओं का आदर कर उन पर राग क्यों करते हो? उनके आहार, वस्त्र एवं पात्रादि के प्रति सम्मान भाव क्यों रखते हो? क्या यह राग रहित होने का प्रतीक है? समभाव में लीन व्यक्ति के लिए सदा सामायिक है, तो गुरु के पास जाकर सामायिक तथा प्रतिक्रमण आदि करने का क्या प्रयोजन है?

स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओं के संयोग से हर्ष तथा उनके वियोग से शोक; धन, माल, हाट आदि के नाश से संताप तथा उनकी प्राप्ति से हर्ष, वैसे ही किसी दुष्ट व्यक्ति के बुरे वचन कहने पर तथा कष्ट देने पर क्रोध तथा सम्मान देने पर आनन्द, ऐसी बातों से राग-द्वेष तो प्रत्यक्ष प्रकट ही है। उनमें फिर कारण अथवा आलम्बन के बिना समता भाव पैदा करने की बात करना क्या ढोंग नहीं है? मेरा घर, मेरी स्त्री, मेरा धन, मेरा पुत्र, मेरा नौकर आदि मेरा-तेरा करने का जिनका स्वभाव निर्मूल नहीं हुआ, उनको समदृष्टि वाले कैसे कह सकते हैं?

जो सम्पत्ति तथा विपत्ति में, शत्रु एवं मित्र में, स्वर्ण और पत्थर में तथा रत्न और तृणसमूह में कोई भी भेद-भाव नहीं रखते, वे ही वास्तव में समभावशाली, आत्मज्ञानी तथा उच्चकोटि के साधक हैं। आज के युग में ऐसे महान् व्यक्ति कितने है? विश्व का बड़ा भाग दुनियादारी की झंझटों में फँसा हुआ है। उनके लिए 'अपने आपको आत्मज्ञानी' सिद्ध करने

का ढोंग रचना तथा उचित कार्य का अनादर करना योग्य नहीं है। बिना योग्यता मिथ्याभिमान रखने से किसी भी स्वार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। इन्द्रियों तथा मन पर काबू पाये बिना निरालम्बन ध्यान की बातें करने वालों के लिए शास्त्रकार कहते हैं -

''जो व्यक्ति इन्द्रियों को वश में किये बिना ही शुभ ध्यान रखने की इच्छा करता है, वह मूर्ख जलती हुई आग के अभाव में रसोई पकाना चाहता है, जहाज को छोडकर अगाध समुद्र को दोनों हाथों से तैरकर पार करने की तथा बीज बोये बिना ही खेत में अनाज उत्पन्न करने की इच्छा करता है।''

प्रश्न 9 - मूर्ति तो एकेन्द्रिय पाषाण की होने से प्रथम गुणस्थानक पर है। उसका चौथे-पाँचवें गुणस्थानक वाले श्रावक तथा छठे-सातवें गुणस्थानक वाले साधु किस प्रकार वंदन-पूजन कर सकते हैं?

उत्तर - प्रथम तो मूर्ति को एकेन्द्रिय कहने वाला व्यक्ति जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ ही हैं। खान में से खोदकर अलग निकाला हुआ पत्थर शस्त्रादि लगने से सचित्त नहीं रहता, ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। अचेतन वस्तु में गुणस्थानक नहीं होता है। अब यदि गुणस्थानक रहित वस्तु को मानने से इन्कार करोगे, तो महादोष के भागी बनोगे क्योंकि सिद्ध भगवान सर्वथा गुणस्थानक रहित हैं, फिर भी अरिहन्तदेव के पश्चात् सबसे प्रथम स्थान पर पूजने योग्य हैं। गुणस्थानक संसारी जीवों के लिए हैं, सिद्धों के लिए नहीं।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार मूर्ति को गुणस्थानक नहीं है, उसी प्रकार कागज आदि से बनी पुस्तकों का भी अपना कोई गुणस्थानक नहीं है। फिर भी प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने ग्रन्थों का बहुत आदर करते हैं, ऊँचे आसन पर रखते हैं तथा मस्तक पर चढ़ाते हैं। उसको सभी प्रकार की आशातनाएँ वर्जित हैं। उनको थूक के छीटें या पैर से ठोकर लगाना भी महादोष रूप गिना जाता है। विश्व में ऐसा कोई धर्म नहीं है जो अपने इष्टदेव की वाणी रूप शास्त्र को मस्तक पर नहीं चढ़ाता हो तथा उसका खूब आदर-सम्मान नहीं करता हो।

श्री जैन सिद्धान्त के श्री भगवती सूत्र में भी **'नमो बंभीए लिवीए'** कह कर श्री गणधर भगवन्तों ने अक्षर रूपी ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है तो इसमें कौनसा गुणस्थानक था? मृतक साधु का शरीर भी अचेतन होने से गुणस्थानक रहित है, फिर भी लोग दूसरे काम छोड़कर उनके दर्शन के लिये दौड़कर जाते हैं, तथा उस मृत देह को बड़ी धूमधाम से चन्दन की चिता में जलाते हैं। इस कार्य को गुरु-भक्ति का कार्य कहेंगे या नहीं? यदि इसे गुरु-भक्ति कह सकते हैं, तो प्रतिमा के वन्दन पूजन आदि को जिनभक्ति का कार्य क्यों नहीं कह सकते हैं?

प्रश्न 10 - मूर्ति तो पत्थर की है, उसकी पूजा से क्या फल मिलेगा?

मूर्ति के आगे की गई स्तुति, क्या मूर्ति सुन सकती है?

उत्तर - लोगों को पथभ्रष्ट करने के लिए इस प्रकार के प्रश्न मूर्तिपूजा के विरोधीवर्ग की ओर से खड़े करने में आते है, परन्तु उसके पीछे घोर अज्ञान एवं कुटिलता छिपी हुई है।

मूर्तिपूजक लोग यदि पत्थर को ही पूजते होते तो स्तुति भी वे पत्थर की ही करते कि 'हे पत्थर! हे अमूल्य पत्थर! तू अनमोल तथा उपयोगी है। तेरी शोभा अपार है। तू विशेष खान में से निकला है। तुझे खान में से निकालने वाले कारीगर बहुत कुशल हैं। हम तेरी स्तुति करते हैं, पर इस प्रकार पत्थर के गुणगान कोई नहीं करता, परन्तु सभी लोग पत्थर की मूर्ति में आरोपित श्री वीतरागदेव की स्तुति करते ही नजर आते हैं। हे निरंजन! निराकार! निर्मोह! निराकांक्ष! अजर! अमर! अकलंक! सिद्धस्वरूपी! सर्वज्ञ! वीतराग! आदि गुणों द्वारा गुणवान परमात्मा की ही स्तुति करते हैं।

क्या पत्थर में ये गुण हैं कि जो पत्थर की उपासना का झूठा दोष लगाकर लोगों को गलत दिशा में ले जाने का प्रयास किया जा रहा है?

जब पूजक व्यक्ति मूर्ति में पूजा योग्य गुणों को आरोपित करता है, तब उसे मूर्ति साक्षात् वीतराग ही प्रतिभासित होती है। वह जिस भाव से मूर्ति को देखता है उसे वह वैसा ही फल देती है। साक्षात् भगवान तरण-तारण हैं, फिर भी उनकी आशातना करने वालों को बुरा फल मिलता है। उसी भाँति मूर्ति भी तारक है, उसकी आशातना करने वाले उसके बुरे फल भोगते हैं।

शंका - मूर्ति को भगवान कैसे माना जाय? क्या रूखी-सूखी रोटी को मिठाई मान लेने से वह मिठाई बन जाती है?

समाधान - सन्तोषी तथा शुभ परिणामी जीवों को तो जो सन्तोष मिठाई से प्राप्त हो सकता है, उतना ही सन्तोष रूखी रोटी से भी प्राप्त हो सकता है। दूसरी ओर असन्तोषी एवं अशुभपरिणामी जीवों को तो मिठाई भी अधिक लाभ नहीं पहुँचाती है तो रूखी रोटी से तो उनका क्या काम बनने वाला है? दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि शुभपरिणामी जीव मूर्ति से भी साक्षात् भगवान के दर्शन जैसा ही लाभ उठा सकते हैं, जबकि दुष्ट परिणामी जीव साक्षात् परमात्मा के दर्शन से भी अशुभ कर्म बाँधते हैं तथा अमृत को भी विष बना देते हैं।

दो घड़ी पूर्व के सामान्य साधु को आचार्यपद प्रदान करने के साथ ही अन्य साधु तथा श्रावक छत्तीस गुणों का आरोपण कर उनको वन्दन करते हैं तथा किसी भी व्यक्ति के पूर्व में गृहस्थ होते हुए भी दीक्षा लेते ही उसमें साधु के सत्ताईस गुणों का आरोपण कर उनको वन्दन-नमस्कार किया जाता है। जिस प्रकार आरोपित अवस्था में कोई आचार्य तथा साधु, क्रमशः आचार्य तथा साधु के रूप में पूजनीय बन जाता है, उसी प्रकार मूर्ति में भी

अंजनशलाका और प्रतिष्ठा हो जाने के बाद उसमें अरिहन्त के समान पूजनीयता उत्पन्न हो जाती है।

'मूर्ति स्तुति को सुनती है या नहीं?' यह प्रश्न ही अयोग्य है, क्योंकि पत्थर रूप मूर्ति के गुणगान करने में नहीं आते हैं। जिसकी वह मूर्ति है, उस देव की स्तुति तथा प्रार्थना की जाती है। वह देव ज्ञानी होने के नाते सेवक की स्तुति आदि को पूरी तरह जान सकते हैं। अतः मूर्ति के सामने स्तुति करना भी उचित है।

प्रश्न 11 - श्री जिनप्रतिमा को यदि कोई अन्य धर्मावलम्बी अपने मन्दिर में स्थापित करे तो वह वन्दनीय गिनी जाएगी या नहीं?

उत्तर - अन्य मत वालों द्वारा ग्रहण की हुई तथा उनके द्वारा देवस्वरूप में स्वीकार की गई श्री जिनमूर्ति को श्रावक नहीं नमेगा क्योंकि वे लोग उस मूर्ति को अपने इष्टदेव के रूप में मान कर अपने मन की विधि के अनुसार उसकी पूजा करेंगे तथा वह विधि जैनों को मान्य नहीं होगी; अतः जहाँ विधिवत् पूजा नहीं होती हो ऐसी अन्यमतावलम्बियों द्वारा ग्रहण की हुई जिन-प्रतिमाओं को मानने, पूजने का शास्त्रों में निषेध किया है।

शास्त्र में ऐसा नियम है कि - 'सम्यग्दृष्टि से ग्रहण किया हुआ मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत है, तथा मिथ्यादृष्टि से ग्रहण किया हुआ सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत है।' वही नियम श्री जिनमूर्ति को लागू पड़ता है। अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा ग्रहण की हुई प्रतिमाओं में से प्रतिमापन चला नहीं जाता फिर भी अविधिपूजन के कारण तथा अन्य जीवों के मिथ्यात्व की वृद्धि में कारण-भूत होने से सम्यग्दृष्टि आत्माओं ने उन प्रतिमाओं के पूजन को त्याज्य बताया है।

यहाँ किसी के मन में प्रश्न उठता है कि 'जिनमूर्ति की भाँति साधु यदि मिथ्यात्वी के मठ में उतरे तो वह पूजनीय है या नहीं?' तो उसका उत्तर यह है कि अन्यतीर्थी के मकान में उतरने मात्र से उसकी साधुता चली नहीं जाती। जब तक अपना लिंग और क्रिया छोड़कर अन्य लिंगी अथवा अन्य लिंग की क्रिया करने वाला नहीं हो जाता, तब तक वह साधु, साधु की तरह पूजने योग्य है। श्री जिनप्रतिमाओं के लिये ऐसी बात नहीं है क्योंकि अन्य मत वालों द्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा के पूजन की विधि, वे श्री जिनमत के अनुसार नहीं करते पर अपने शास्त्रानुसार करते हैं, ऐसी विपरीत विधि को मान्यता देने से प्रत्यक्ष रूप से मिथ्यात्व की वृद्धि होती है।

प्रश्न 12 - यदि सम्यग्दृष्टि के हाथ में रहने वाले मिथ्यादृष्टि के शास्त्र सम्यक्श्रुत बन जाते हों तो वेद, कुरान, बाइबल आदि सभी धर्मग्रन्थ क्या वन्दनीय नहीं बन जायेंगे?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि के हाथ में रहनेवाले नहीं, पर हृदय में रहते हुए शास्त्र,

सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिये सम्यक्श्रुत बन जाते हैं। यह प्रभाव उन मिथ्यादृष्टि के शास्त्रों का नहीं, पर सम्यग्दृष्टि के विवेकशील हृदय का है। निरपेक्ष वाणी मिथ्या होते हुए भी उसे सापेक्ष रूप से विचार करने वाला उसमें से सम्यक् विचारों को ही ग्रहण करता है।

श्री नंदीसूत्र में अक्षर को श्रुतज्ञान कहा है जिससे कुरान आदि में अक्षर रूप जो ज्ञान है वह अवश्य वन्दनीय है परन्तु उसका भावार्थ वन्दनीय नहीं है।

कई जिनवाणी को भावश्रुत कहते हैं तथा अन्य धर्मों के शास्त्रों को द्रव्यश्रुत कहते हैं, पर यह गलत है। श्री नंदीसूत्र में श्री जिनवाणी को द्रव्यश्रुत तथा उसके भावार्थ को भावश्रुत कहा है। श्री गणधर भगवन्तों ने **'नमो सुअदेवयाए'** कहकर, श्री जिनवाणी रूप द्रव्यश्रुत को वन्दन करने का पाठ श्री भगवती सूत्र में है तथा उसी सूत्र में **'नमो बंभिलिविए'** कह कर ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है।

श्री जिनवाणी भाषावर्गणा के पुद्गल होने से द्रव्य है तथा ब्राह्मी लिपि भी अक्षर रूप होने से द्रव्य है। इसलिये शास्त्रों में कहे हुए अक्षर द्रव्यश्रुत हैं और वे भी वन्दनीय हैं, तथा मिथ्याशास्त्रों में रहे हुए अक्षर भी द्रव्यश्रुत रूप में वन्दनीय हैं। मिथ्यादृष्टि से ग्रहण किया हुआ उनका भावार्थ मिथ्या होने से वन्दनीय नहीं है पर सम्यग्दृष्टि से ग्रहण किया हुआ, उनका भावार्थ सम्यग् होने से वन्दनीय है।

प्रश्न 13 - प्रभु के नाम को तो स्वीकार कर लें, परन्तु उनकी आकृति को नहीं माने तो क्या ऐसा चल सकता है?

उत्तर - अपने इष्टदेव, गुरु के नाम को मानकर जो उस नाम वाली आकृति को नहीं मानते हैं, वे एक दृष्टि से अपने देव, गुरु का अनादर कर घोर पाप करते हैं। जब दो अक्षर के नाममात्र से देव, गुरु के स्वरूप का बोध होने से कल्याण हो तो उसी के समान आकारवाली प्रतिमा से दुगुना लाभ क्यों नहीं होगा? समझना तो यह चाहिए कि अकेली आत्मा अरूपी, अविनाशी तथा निरंजन होने से उसका नाम, निशान देह के आश्रित ही होता है। जिसका नाम है, उसकी आकृति भी होनी ही चाहिए। जिसकी आकृति नहीं होती, ऐसी निराकार वस्तु का नाम भी नहीं होता है। शास्त्रों में अरूपी आकाश का भी आकार माना गया है।

इससे स्पष्ट होता है कि आकारहीन वस्तु कोई वस्तु नहीं है। नाम एवं आकृति द्वारा गुण का बोध होता है। नाम के साथ आकृति लगी ही होती है। इससे जहाँ तक नाम मानने की आवश्यकता स्वीकृत है, वहाँ तक आकृति मानने की आवश्यकता का भी स्वीकार हो जाता है। आकृति मानने की आवश्यकता तभी छूट सकती है जब नाम मानने की आवश्यकता भी छूट गई हो।

'नाम गुण का होता है, पर आकार का नहीं', ऐसा कहने वाले को सोचना चाहिए

कि गुण से तो श्री ऋषभदेव और वर्धमान स्वामी समान हैं, फिर श्री वर्धमान स्वामी का नाम लेते ही भगवान ऋषभदेव क्यों याद नहीं आते? यदि गुण का नाम वर्धमान होता तो इस गुणवाले सभी व्यक्ति इन गुणों के साथ याद आ जाने चाहिये। परन्तु 'महावीर' अथवा 'वर्धमान' नाम लेने से केवल भगवान 'महावीर' याद आते है, इसका क्या कारण है?

इसका कारण एक ही है कि महावीर नाम केवल उनके गुण का ही नहीं पर आकार का भी है। भगवान महावीर का आकार और भगवान ऋषभदेव का आकार एक नहीं है, इसीलिये एक का नाम लेते समय दूसरे याद नहीं आते हैं।

इससे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि नाम में गुण प्रधान नहीं, परन्तु आकार ही प्रधान होता है। इसके उपरान्त भी जो नाम को मानकर आकार को मानने से इन्कार करते हैं, वे मूर्ख हैं। जहाँ आकृति नही, वहाँ नाम नहीं और जहाँ नाम नहीं, वहाँ आकृति नहीं, इस प्रकार दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। अतः नाम और उसके स्मरण का फल मानने वाले को आकार तथा उसकी भक्ति का फल भी अवश्य मानना चाहिए।

प्रश्न 14 - वस्तु की अनुपस्थिति में उसके यथार्थ स्वरूप को जानने के उपाय को ही क्या आकार कहते हैं?

उत्तर - प्रत्येक अनुपस्थित वस्तु का यथार्थ स्वरूप केवल उसके नाम द्वारा नहीं जाना जा सकता परन्तु आकार द्वारा ही जाना जा सकता है। सिंह या बाघ का नाम जानकर कोई जंगल में जाये तो नाम मात्र की जानकारी से वह सिंह या बाघ को नहीं पहचान सकता है। उनकी पहचान के लिए नाम के साथ-साथ आकार का ज्ञान भी आवश्यक है।

इस कारण अनुपस्थित वस्तु का बोध कराने के लिए अकेला नाम समर्थ नहीं हो सकता। साथ ही आकृति ज्ञात हो, पर नाम मालूम न हो तो उस वस्तु का बोध होना तो सर्वथा अशक्य है। अर्थात् बोधक शक्ति, नाम की अपेक्षा आकार में विशेष रूप से है।

प्रश्न 15 - क्या जड़ को चेतन की उपमा दी जा सकती है?

उत्तर - वस्तु के धर्म अनन्त हैं। प्रत्येक धर्म के कारण वस्तु को, भिन्न-भिन्न अनन्त उपमाएँ दी ज़ा सकती हैं। एक लकड़ी पर बालक सवारी करता है तब लकड़ी जड़ होते हुए भी उसे चेतन घोड़े की उपमा दी जाती है। पुस्तक अचेतन होते हुए भी उसे ज्ञान या विद्या की उपमा दी जाती है।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान तथा धर्म, ये आत्मिक वस्तुएँ होते हुए भी, इन्हें कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि रत्न की उपमा दी जाती है। वस्तु के अनन्त गुणों में से कोई भी गुण लेकर उसके द्वारा जो-जो कार्य सिद्ध होते हैं उस-उस प्रकार की उपमा देने का व्यवहार विश्वप्रसिद्ध है।

परमात्मा की मूर्ति से परमात्मा का ज्ञान होता है, इससे उस मूर्ति को भी परमात्मा कहा जा सकता है। पाँच सौ रुपये की हुंडी या नोट को पाँच सौ रुपया ही कहते हैं।

वास्तविक रीति से देखने पर रुपये तो चाँदी के टुकड़े हैं व नोट, हुंडी आदि कागज और स्याही स्वरूप हैं, परन्तु दोनों से काम एक समान निकलता है और इसीलिये दोनों को रुपये ही कहा जाता है, वैसे ही परमात्मा की मूर्ति भी परमात्मा का बोध कराने वाली होने से उसे भी परमात्मा की उपमा दी जा सकती है।

प्रश्न 16 - आत्मा की उन्नति के लिए पंचेन्द्रिय साधु का आलम्बन स्वीकार करना अच्छा है या एकेन्द्रिय पाषाण की मूर्ति का?

उत्तर - पहली बात तो यह है कि मूर्ति अचेतन होने से एकेन्द्रिय नहीं है। साधु का आलम्बन साधु के शरीर के कारण नहीं, किन्तु उस शरीर को आश्रय देकर रहने वाले साधु के उत्तम सत्ताईस गुणों का है। जो ऐसा न हो तो शरीर तो अचेतन है। उसके आलम्बन से क्या लाभ होने का है? मूर्ति पत्थर की होते हुए भी उसकी पूजा करते समय पाषाण का आलम्बन नहीं लिया जाता, पर जिसकी वह मूर्ति है, उस परमात्मा का तथा उस परमात्मा में रहने वाले अनन्तगुणों का ही आलम्बन लिया जाता है। इस दृष्टि से साधु के आलम्बन से भी परमात्मा की मूर्ति का आलम्बन चढ़ जाता है, इससे श्री जिनाज्ञानुसार उसको स्वीकार करने वाला, विशेष आत्मकल्याण कर सकता है।

प्रश्न 17 - पाषाण की मूर्ति में प्रभु के गुणों का आरोपण किस प्रकार होता है?

उत्तर - जिस प्रकार सण आदि हल्की वस्तुओं को स्वच्छ कर उससे सफेद कागज बनाते हैं और उन कागजों पर प्रभु की वाणी रूप शास्त्र लिखे जाते हैं, तब तमाम धर्मों के लोग उन शास्त्रों को भगवान की तरह पूजनीय मानते हैं। उसी तरह खान के पत्थर से मूर्ति बनती है और उस मूर्ति में गुरुजन सूरिमंत्र के जाप द्वारा प्रभु के गुणों का आरोपण करते हैं, तब वह मूर्ति भी प्रभु के समान पूजनीय बन जाती है।

किसी गृहस्थ को दीक्षा देते समय गुरु उसे दीक्षा का मंत्र (करेमि भंते सूत्र) सुनाते हैं और शीघ्र ही लोग उसे साधु मानकर वन्दना करते हैं। यद्यपि उस समय उस नवदीक्षित साधु में साधु के सत्ताईस गुण प्रकट हो गये हों, ऐसा कोई नियम नहीं है; फिर भी उन गुणों का उसमें आरोपण कर उसकी वन्दना होती है। वैसे ही मूर्ति भी गुणारोपण के बाद प्रभु समान वन्दनीय बनती है, जिससे लोग उसकी वन्दना-पूजा करते हैं तथा उसको नमस्कारादि करते हैं, यह सर्वथा उचित है।

प्रश्न 18 - क्या सदाकाल प्रभुमूर्ति को मानते ही रहना चाहिए?

उत्तर - हाँ! जब तक आत्मा प्रमादी और विस्मरणशील है तब तक उसे प्रभुगुणों के स्मरण हेतु प्रभुमूर्ति को मानना ही चाहिए।

ज्ञानाभ्यास में विस्मृति के भय से जिन्हें अचेतन पुस्तकों का सहारा लेना पड़ता है,

प्रभु का जाप करते भूल हो जाने के भय से जिन्हें अचेतन जपमाला का आश्रय लेना पड़ता है, चारित्र के परिणाम से पतित हो जाने के भय से जिन्हें रजोहरण, मुखपट्टिका आदि का आश्रय लेना पड़ता है; सर्दी, गर्मी और वर्षा के भय से जिन्हें अचेतन वस्त्र तथा मकान आदि का सहारा लेना पड़ता है तथा हिंसक-पशु-पक्षी अथवा डाकु आदि के भय से जिन्हें शस्त्र इत्यादि की शरण खोजनी पड़ती है, उन्हें तब तक प्रभुगुण की स्मृति के लिए अचेतन मूर्ति का आलम्बन लिये बिना छुटकारा नहीं।

दूसरे सभी अचेतन आलम्बनों को स्वीकार करते हुए भी, अचेतन के नाम पर केवल परमात्मा की मूर्ति के आलम्बन को मानने से इन्कार करते हैं; उनके लिए तो परमात्मा के ध्यान की कीमत, सांसारिक वस्तु जितनी भी नहीं, ऐसा ही कहा जा सकता है।

पुस्तकादि के आलम्बन बिना ज्ञानाभ्यास में चूक जाने वाले लोग मूर्ति आदि के आलम्बन के अभाव में परमात्म-ध्यान से नहीं चूकेंगे, ऐसा कैसे मान लिया जाय? परमात्म-ध्यान से हटाने वाली प्रतिपक्षी वस्तुओं के संसर्ग से जो मुक्त नहीं, वे मूर्ति के आलम्बन बिना परमात्मा के ध्यान से चूके बिना रह ही नहीं सकते, पर परमात्मा के ध्यान से जीव के चूक जाने पर उसका कितना नुकसान होता है, यह सर्व सामान्य जगत् के ख्याल में नहीं होता। इसीलिए परमात्म-मूर्ति के आलम्बन के लिए कोई कुतर्क करे तो तुरन्त मन चल-विचल बन जाता है।

किन्तु शास्त्र कहते हैं कि संसार के अन्य कार्य भूल जाने पर जीव को इतना नुकसान उठाना नहीं पड़ता जितना परमात्मध्यान से चूक जाने पर। ऐसे अनन्य आलम्बन का इस जगत् में अभाव हो जाय तो जीव आर्त्त-रौद्र ध्यान में चढ़कर अनन्त संसार को बढ़ाने वाला बनता है।

कोई भी व्यक्ति यदि अपने जीवन भर की कमाई को बिना ताले की तिजोरी में रखे तो कभी-न-कभी चोर उसे लूटे बिना नहीं रहेंगे। वैसे ही आत्मारूपी तिजोरी में एकत्र शुभध्यान रूपी अमूल्य धन को प्रतिमा का आलम्बन रूपी ताला लगाकर सुरक्षित न बनाया जाय तो प्रमाद रूपी चोरों द्वारा उसका नाश हुए बिना नहीं रहता।

इस प्रकार शुभध्यान रूपी धन का नाश होने पर आत्मा को अनन्त संसार-सागर में भटकना ही पड़ता है। इसलिए जिनप्रतिमा का आलम्बन प्रमादी जीवों के लिए पानी पहले पुल बाँधने के समान अत्यन्त हितकारक है अथवा जिस प्रकार बिना बाड़ के खेत की किसान कितनी ही रखवाली क्यों न करें, पशु-पक्षी उसमें प्रवेश कर अनाज का नाश किये बिना नहीं रहते, उसी प्रकार जिन-प्रतिमा के आलम्बन रूपी बाड़ बिना, दुर्ध्यान रूपी पशु-पक्षी शुभध्यान रुपी पके हुए धान का नाश किये बिना नहीं रहते।

आत्मा अनादि काल से पुद्गल के विषय में आसक्त रही हुई है। उसे पुद्गल के संसर्ग की आसक्ति से मुक्त करने वाला शुभालम्बन प्रतिमा के बिना दूसरा कोई नहीं है। उच्च कोटि के शुभालम्बन तथा ज्ञान-ध्यान आदि द्वारा पुद्गल का राग छूट जाने पर, भूख की तृप्ति होते ही जैसे अनाज की तथा रोग की शांति होते ही जैसे दवा की इच्छा समाप्त हो जाती है, वैसे ही सभी प्रकार के आलम्बन स्वत: ही छूट जाते हैं। पर उसके पहले संसार में लिप्त प्राणियों को शुभ आलम्बन छोड़ देना हितकर नहीं है। जिस प्रकार साँप अपने आवरण का त्याग करता है वैसे ही उच्च भूमिका प्राप्त होते ही आलम्बन स्वत: ही छूट जाते हैं।

प्रश्न 19 - जड़ प्रतिमा मोक्षदायक कैसे हो सकती है?

उत्तर - शास्त्र, जो स्याही और कागज रूप होने के कारण जड़ होते हुए भी 'मोक्ष दिलाने वाले है', ऐसा सभी स्वीकार करते हैं, तो परमेश्वर की मूर्ति भी उसके आराधक को मोक्ष का सुख प्रदान क्यों न करे? शास्त्र ईश्वरीय वचनों की प्रतिमा है; एवं मूर्ति भगवान के आकार की प्रतिमा है। शब्दों की प्रतिमा से जिस प्रकार ज्ञान होता है, उसी प्रकार आकार की प्रतिमा से भव्य आत्माओं को ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता ही है।

प्रश्न 20 - अक्षरों के आकार को देखने मात्र से ज्ञान होता है परन्तु मूर्ति को देखने मात्र से ज्ञान कहाँ होता है?

उत्तर - अक्षराकार को देखने मात्र से ज्ञान होने की बात कहना गलत है। इस ज्ञान के पूर्व शिक्षक द्वारा उन अक्षरों को पहिचानना पड़ता है।

अक्षरों को पहिचानने के बाद ही पढ़ना या लिखना सीखा जा सकता है। इस प्रकार गुर्वादिक द्वारा - ''यह देवाधिदेव श्री वीतराग की मूर्ति है, इनके अज्ञानादि दोषों का नाश हो चूका है। ये अनन्त गुण वाले हैं। ये देवेन्द्रों से भी पूजित हैं, तत्त्वों का उपदेश देने वाले हैं, मोक्ष की प्राप्ति उन्हें हो चुकी है, ये संसार सागर से तिर चुके हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी है, दया के सागर हैं, परीषह तथा उपसर्गों की सेना को भगाने वाले हैं तथा रागादि से रहित हैं।'' ऐसा ज्ञान जैसे-तैसे होता जाता है, वैसे-वैसे मूर्ति के दर्शनादि करते समय उन गुणों का ज्ञान तथा स्मरण दृढ़तर बनता जाता है।

प्रश्न 21 - मूर्ति के दर्शन से देव का स्मरण होता है, यह बात बराबर है, पर उसकी भक्ति से क्या लाभ?

उत्तर - शास्त्र के सुनने अथवा पढ़ने से परमेश्वर के वचनों का बोध होता है, तो भी शास्त्र का उपकार मानने वाले भक्त लोग उसे ऊँचे स्थान पर रखते हैं, पैर नहीं लगने देते, मल-मूत्र वाली अपवित्र जगह से दूर रखते हैं तथा उसको वन्दन-नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार शास्त्र की भक्ति करने से शास्त्र के वचनों पर प्रेम बढ़ता है, श्रद्धा सुदृढ

होती है तथा सन्मार्ग पर चलने का बल प्राप्त होता है। इसी तरह प्रतिमा की भी वन्दन-नमस्कार-पूजनादि द्वारा भक्ति करने से भगवान पर प्रेम बढ़ता है, श्रद्धा सतेज होती है तथा गुणप्राप्ति की तरफ आगे बढ़ने के लिए आत्मा में उत्साह आता है। गुणप्राप्ति के उत्साह से शुभध्यान की वृद्धि होती है, शुभध्यान की वृद्धि से कर्म-रज का नाश होता है और ऐसा होने पर मोक्षमार्ग अत्यन्त सुगम हो जाता है।

प्रश्न 22 - पत्थर की गाय को दुहने से जैसे दूध प्राप्त नहीं होता है, वैसे पत्थर की मूर्ति पूजने से भी क्या कार्य सिद्ध हो सकता है?

उत्तर - पहली बात तो यह है कि यहाँ गाय का दृष्टान्त देना अनुपयुक्त है। गाय के पास से दूध लेने का होता है, पर मूर्ति के पास से कुछ लेने का नहीं होता। गाय जैसे दूध देती है, वैसे मूर्ति कुछ नहीं देती है। पूजक स्वयं अपनी आत्मा में छिपे हुए वीतरागतादि गुणों को मूर्ति के आलम्बन से प्रकट करता है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार पत्थर की गाय दूध नहीं देती वैसी सच्ची गाय भी, हे गाय! तू दूध दे, ऐसा कहने मात्र से दूध नहीं देती है। तो फिर साक्षात् परमात्मा के नाम से या जाप से भी कार्यसिद्धि नहीं होनी चाहिए और परमात्मा का नाम भी नहीं लेना चाहिए। परन्तु जिस शुभ उद्देश्य से ईश्वर का नामस्मरण किया जाता है, उसी शुभ उद्देश्य से परमात्मा की मूर्ति की उपासना भी कर्तव्य बन जाती है। परमात्मा के नाम लेने से जैसे अन्त:करण की शुद्धि होती है, वैसे ही परमात्म-मूर्ति के दर्शनादि से भी अन्त:करण की शुद्धि होती ही है।

इसी तरह कई लोग कहते हैं कि 'जिस प्रकार सिंह की मूर्ति आकर मारती नहीं है, वैसे ही भगवान की मूर्ति भी आकर तारती नहीं, क्योंकि, 'सिंह! सिंह!' ऐसा नाम लेते ही क्या सिंह आकर मारता है? नहीं। तो फिर भगवान का नाम लेना भी निरर्थक ही ठहरेगा। सिंह की मूर्ति नहीं मारती, इसका कारण यह है कि मारने में सिंह को स्वयं को प्रयत्न करना पड़ता है, मरने वाले को नहीं; जबकि भगवान की मूर्ति द्वारा तिरने में मूर्ति को कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता है, किन्तु तरने वाले को करना पड़ता है।

मुक्ति की प्राप्ति हेतु व्रत, नियम, तपस्या, संयम आदि की आराधना व्यक्ति को करनी पड़ती है, परमात्मा को नहीं। परमात्मा के प्रयत्न से ही जो तिरने का होता तो परमात्मा तो अनेक शुभ क्रिया कर गये हैं, फिर भी उनसे अन्य क्यों नहीं तिर गये? परन्तु वैसा होता नहीं है।

एक के खाने से जैसे दूसरे की भूख नहीं मिटती, वैसे भगवान के प्रयत्न मात्र से भक्तजनों की मुक्ति नहीं हो जाती। उनकी मुक्ति के लिए वे स्वयं ही प्रयत्न करें, तभी सिद्धि होती है। फिर भी भगवान की मूर्ति के आलम्बन से ही जीव को तपनियमादि करने का उल्लास होता है और उसी आधार पर 'भगवान की मूर्ति तारती है', ऐसा कहने में किसी

भी प्रकार की हरकत नहीं है।

'पत्थर की गाय दूध देती ही नहीं'- ऐसा कहना भी गलत है। गाय के आँचल तथा उसकी दोहन क्रिया से अनभिज्ञ व्यक्ति को इसका ज्ञान देने के लिये भी गाय की आवश्यकता होती है और साक्षात् गाय के अभाव में उसकी मूर्ति द्वारा दोहने की उस क्रिया का ज्ञान दिया जा सकता है। इस ज्ञान के अभाव में यदि प्रत्यक्ष रूप में गाय मिल भी जाय तो भी उससे दूध प्राप्त करने की आशा व्यर्थ है। इस कारण एक अपेक्षा से गाय की मूर्ति ही दूध देने वाली सिद्ध हुई, यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इसी तरह भगवान के अभाव में भगवान की भक्ति और उनके ध्यान के ज्ञान के लिए भगवान की मूर्ति आवश्यक है। मूर्ति के अभाव में भक्ति एवं ध्यान करने का वास्तविक अनुष्ठान तथा विधि जानना सम्भव नहीं. ध्यान तथा भक्ति बिना मोक्षप्राप्ति की इच्छा, वन्ध्या ही रहती है। इस तरह पत्थर की गाय जैसे दोहने की क्रिया सिखलाती है, वैसे ही पत्थर की मूर्ति भक्ति-ध्यानादि करना सिखाती है और उसके अनुष्ठान को जीवन में क्रियाशील बनाती है।

प्रश्न 23 - परमात्मा के नाम मात्र से ही यदि उनके स्वरूप का बोध हो जाता हो तथा उससे अन्त:करण की शुद्धि होती हो तो फिर उनकी प्रतिमा को पूजने का आग्रह किसलिए?

उत्तर - प्रतिमा के दर्शन से जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी नाममात्र से कदापि नहीं हो सकती। नाम की अपेक्षा आकार में अधिक विशेषताएँ हैं। जैसा आकार देखने में आता है, वैसा ही आकार सम्बन्धी धर्म का चिन्तन मन में होता है।

सम्पूर्ण शुभ अवयवों की प्रतिमा देखकर, उसी प्रकार का भाव उत्पन्न होता है। कामशास्त्रानुसार स्त्री-पुरुषों के विषयसेवन सम्बन्धी आसन आदि को देखकर देखने वाले कामी व्यक्ति को, तत्काल विकार उत्पन्न होता है। योगासनों की आकृतियों को देखने से योगी पुरुषों के योगाभ्यास में शीघ्र वृद्धि होती है।

भूगोल के अभ्यासी को नक्शा आदि देखने से वस्तुओं का ज्ञान आसानी से होता है। मकानों के प्लान देखने से उसके जानकार को उन वस्तुओं का तुरन्त ध्यान आता है; केवल नाम से वह सारा ख्याल नहीं आ सकता। इसी प्रकार परमात्मा के नाम की अपेक्षा परमात्मा के आकार वाली मूर्ति से परमात्मा के स्वरूप का अधिक स्पष्ट बोध होता है; तथा परमात्मा का ध्यान करने के लिए आसानी पैदा हो जाती है।

वन्दन-पूजन एवं आदर-सत्कार जिस ढंग से मूर्ति का हो सकता है, उस ढंग से नाम का नहीं हो सकता। मूर्ति की भक्तिमें तीनों योग तथा अन्य सभी सामग्रियों की विशेषता ग्रहण की जा सकती है, जबकि नाम-कीर्तनादि में वह सब नहीं हो सकता।

प्रश्न 24 - निरालम्बन ध्यान कब तक नहीं हो सकता?

उत्तर - श्री जैनशास्त्रों में मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने के लिए चौदह सीढ़ियाँ रूपी चौदह गुणस्थानक वर्णित है। उनमें से प्रथम पाँच गुणस्थानक गृहस्थों के लिए है और शेष नौ गुणस्थानक साधुओं के लिए है। छठे गुणस्थानक का नाम प्रमत्त तथा सातवें का नाम अप्रमत्त है। सम्पूर्ण आयुष्य के काल में, सातवें गुणस्थानक का काल गिना जावे, तो भी अन्तर्मुहूर्त मात्र का ही है।

सात से ऊपर के गुणस्थानक इस काल में विद्यमान नहीं है। मुख्यतया प्रथम छह गुणस्थानक इस काल में विद्यमान हैं। साधु के छठे गुणस्थानक में भी पाँच प्रकार के प्रमाद सम्भव होने से निरालम्बन ध्यान हो ही नहीं सकता। गृहस्थ तो अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थानक तक ही पहुँच सकते हैं। वह तो अवश्य प्रमादी है। प्रमादी व्यक्तियों को निरालम्बन ध्यान के लिए अयोग्य बताया है। श्री गुणस्थान क्रमारोह में पूज्यपाद श्री रत्नशेखर सूरीश्वरजी महाराजा ने फरमाया है कि -

प्रमाद्यावश्यकत्यागात्, निश्चलं ध्यानमाश्रयेत् ।
योऽसौ नैवागमं जैनं, वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः ॥1॥

अर्थ - स्वयं प्रमादी होने पर भी जो आत्मा अवश्य करणीय का त्याग करती है तथा निश्चल जैसे निरालम्बन ध्यान का आश्रय करती है, वह विपरीत ज्ञान से मूर्ख बनी आत्मा, श्री सर्वज्ञ भगवान के आगमों को नहीं जानती है।

इस काल में जीव सातवें गुणस्थानक से ऊँचा नहीं चढ़ सकता है और सातवें गुणस्थानक का समय तो बहुत थोड़ा है; अतः जीव को छठा तथा इससे उतरता गुणस्थानक होने से निरालम्बन ध्यान सम्भव नहीं है। इस काल के बड़े और समर्थ पुरुष भी जब निरालम्बन ध्यान का मनोरथ मात्र किया करते हैं, तो अल्प शक्ति वाले तथा विषय-वासना में डूबे रहने वाले व्यक्तियों के लिए तो निरालम्बन ध्यान हो ही कैसे सकता है?

प्रश्न 25 - कोई विधवा अपने मृत पति की मूर्ति बनाकर पूजा-सेवा करे तो क्या इससे उसकी काम-तृप्ति अथवा पुत्र-प्राप्ति होती है? नहीं होती तो फिर परमात्मा की मूर्ति से भी क्या लाभ होने वाला है?

उत्तर - यह एक कुतर्क है। इसका उत्तर भी उसी प्रकार देना चाहिए। पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी स्त्री एक आसन पर बैठकर हाथ में माला लेकर पति के नाम का जाप करे तो क्या उस स्त्री की इच्छा पूरी हो जाएगी या उसे सन्तान प्राप्ति हो जाएगी? नहीं होगी। तो फिर प्रभु के नाम की जपमाला गिनना भी निरर्थक सिद्ध होगा। प्रभु के नाम से कुछ भी लाभ नहीं होता, ऐसा तो कोई नहीं कह सकता। इसके विपरीत उसी विधवा स्त्री को पति का नाम सुनने से जो आनन्द और स्मरण आदि होगा उसकी अपेक्षा दुगुना आनन्द तथा स्मरणादि उसे

उसकी मूर्ति अथवा चित्र देखकर होगा। इस तरह नाम की अपेक्षा मूर्ति में विशेष गुण निहित हैं।

किसी व्यक्ति ने कभी साँप को नहीं देखा, केवल उसका नाम सुना है। इतने मात्र से उस पुरुष को किसी स्थान पर सर्प देखने पर 'यह सर्प है' ऐसा ज्ञान होगा? नहीं होगा। परन्तु सर्प का आकार जिसने जाना होगा, वह सर्प को प्रत्यक्ष रूप में देखते ही उसे पहिचान जाएगा।

इस प्रकार जिस व्यक्ति ने मनुष्य विशेष को देखा नहीं, और न उसकी तस्वीर देखी है; केवल उसका नाम सुना है तो वह व्यक्ति किसी समय उस मनुष्य के निकट से भी निकल जाय तो भी उसे पहिचान नहीं सकेंगा, परन्तु जिस व्यक्ति ने उसकी तस्वीर देखी होगी, वह शीघ्र उसे पहिचान जाएगा कि 'यह वह व्यक्ति है' इस पर से भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप पहिचानने के लिए नाम जितना उपयोगी है, उसकी अपेक्षा मूर्ति अथवा आकार अधिक उपयोगी है।

प्रश्न 26 - जब कारीगर द्वारा निर्मित मूर्ति पूजनीय है, तो उसका निर्माता कारीगर विशेष पूजनीय क्यों नहीं?

उत्तर - कारीगर प्रतिमा को बनाने वाला है न कि उस व्यक्ति को जिसकी वह प्रतिमा है। बीज को धरती में बोया जाता है, खाद डाली जाती है और कृषक के परिश्रम से ही उन बीजों से अन्न उपजाया जाता है। फिर भी अनाज को खाने वाले मिट्टी अथवा खाद आदि खाना पसन्द नहीं करते।

श्री जिनप्रतिमा बनती है पत्थर आदि से, उसे बनाता है कारीगर, पर उसका स्वरूप तो श्री वीतराग परमात्मा का है। यदि कारीगर श्री वीतराग परमात्मा का ही सर्जक होता तो वह अवश्य पूजनीय बनता, परन्तु ऐसा तो नहीं है। पतिव्रता स्त्री पति के फोटो का आदर करती है पर फोटोग्राफर का नहीं। शास्त्रों को लिखने वाले प्रतिलिपिकार है, पर क्या वे पूजनीय है? नहीं हैं। क्योंकि शास्त्रों का उद्भवस्थान प्रतिलिपिकार नहीं है। वे तो केवल नकल करने वाले हैं।

शास्त्र पूजनीय होने से शास्त्रकार पूजनीय माने जाते है, तथा शास्त्रकार पूजनीय होने से उनके द्वारा रचित शास्त्र पूजनीय माने जाते है। यह बात बिल्कुल ठीक है। इसी तरह श्री जिनेश्वरदेव पूजनीय होने के कारण उनकी प्रतिमा भी पूजनीय गिनी जाती है, परन्तु प्रतिमा को बनाने वाला कारीगर नहीं। किसी प्रिय अथवा पूज्य व्यक्ति के चित्र में अधिकाधिक यथार्थता लाने वाला व्यक्ति पुरस्कार का पात्र बनता है। ठीक उसी तरह वीतरागता की सुन्दर छाया रूप में श्री जिनमूर्ति को बनाने वाला कारीगर आनन्द देने वाला व इनाम का पात्र बनता है।

जो श्री वीतराग परमात्मा की मूर्ति को मानने-पूजने आदि से इन्कार करने के लिए ऐसे कुतर्क उठाते है कि 'जब मूर्ति पूजनीय है तो उसको बनाने वाले कारीगर विशेष पूजनीय क्यों नहीं?' उनसे पूछना चाहिए कि तुम जिन शास्त्रों को पूजनीय मानते हो, उनकी नकल करने वाले प्रतिलिपिकार अथवा मुद्रण करने वालों को शास्त्रों से अधिक पूजनीय मानते हो क्या? साधु-महात्माओं के वस्त्रादि उपकरणों को तुम बहुत आदरणीय मानते हो परन्तु उनको बनाने वाले बुनकर तथा कारीगर आदि को इनसे भी बढ़कर आदरणीय मानते हो क्या? यदि नहीं तो श्री जिनमूर्ति के सम्बन्ध में ही ऐसे कुतर्क क्यों? श्री जिनमूर्ति की पूजनीयता श्री जिनेश्वरदेव के गुणों के फलस्वरूप ही है, इस बात को समझने वाले बुनकर तथा कारीगर आदि को इनसे भी बढ़कर आदरणीय मानते हो क्या? यदि नहीं तो श्री जिनमूर्ति के सम्बन्ध में ही ऐसे कुतर्क क्यों? श्री जिनमूर्ति की पूजनीयता श्री जिनेश्वरदेव के गुणों के फलस्वरूप ही है, इस बात को समझने वाले व्यक्ति तो कभी ऐसे बुरे विचारों में नहीं फँसेंगे।

प्रश्न 27 - प्रतिमा निर्जीव है तो उसकी पूजा क्यों होती है?

उत्तर - जो द्रव्य पूजनीय है, तो वह सजीव हो या अजीव, वह पूजनीय है ही। दक्षिणावर्त शंख, कामकुम्भ, चिन्तामणि रत्न, चित्राबेल आदि पदार्थ अजीव तथा जड़ होने पर भी विश्व में पूजे जाते हैं और उनके पूजने वालों को मनवांछित फल की प्राप्ति भी होती है। जैसे ये निर्जीव वस्तुएँ अपने स्वभाव से पूजक का हित करती है, वैसे ही श्री जिन प्रतिमा भी पूजक आत्माओं को स्वभाव से ही शुभ फल देती है।

प्रश्न 28 - जिन प्रतिमा तो साधारण कीमत में बिकती है, तो फिर उसे भगवान कैसे माना जाय?

उत्तर - भगवान की वाणीस्वरूप श्री आचारांग, श्री भगवती आदि पुस्तकें थोड़ी कीमत में बिकती हैं, तो फिर उन्हें भी पूजनीय कैसे माना जा सकता है? पुस्तकों द्वारा ज्ञान का प्रचार होता है अतः वे पूजनीय हैं, प्रतिमा द्वारा भव्यात्माओं को परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है अतः वह इससे भी अधिक पूजनीय है।

शास्त्र जो कि कागज पर स्याही से लिखे हुए हैं, उनको भी स्वयं गणधर महर्षियों ने 'भगवान' कहकर वन्दन-नमस्कार किया है तो प्रतिमा वन्दन-नमस्कार योग्य हो, इसमें शंका ही क्या है? शास्त्रों में कहा है कि -

'नमो बंभीलिविए' ब्राह्मीलिपि को नमस्कार हो!

'आयरस्सणं भगवओ' भगवान श्री आचारांग' इत्यादि सुलभ और सस्ती वस्तुएँ भी कई बार बड़े व्यक्तियों के स्वीकार करने पर दुर्लभ तथा कीमती बन जाती है। ठीक वैसे ही अल्प मूल्य में मिलने वाली प्रतिमाएँ भी अंजनशलाका तथा प्रतिष्ठा आदि शुभ क्रियाओं के द्वारा अमूल्य एवं परम पूजनीय बनती हैं। राज्याभिषेक होने पर जैसे साधारण

व्यक्ति भी राजा गिना जाता है तथा विवाहोत्सव के बाद साधारण घर की कन्या भी राजरानी अथवा बड़े घर की सेठानी गिनी जाती है, वैसे ही अल्प मूल्य में मिलने वाली प्रतिमाएँ भी श्री संघ द्वारा विधिवत् प्रतिष्ठा होने पर, साक्षात् परमात्मा के समान पूजनीय बनती हैं।

प्रश्न 29 - मूर्ति परमात्मा तुल्य हो तो उसे स्त्री का स्पर्श क्यों? उसे ताले में क्यों रखा जाता है?

उत्तर - स्त्री के स्पर्श का दोष, भाव अरिहन्त को लेकर है। प्रतिमा तो श्री अरिहन्तदेव की स्थापना है। स्थापना अरिहन्त को स्त्री के स्पर्श से कोई दोष नहीं लगता। यदि कोई स्थापना अरिहन्त तथा भाव अरिहन्त दोनों में एक समान दोषों का आरोपण करना चाहता हो तो वह सम्भव नहीं है।

सूत्रों में सोना-चांदी तथा स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक आदि अनेक वस्तुओं के नाम लिखे होते हैं। वे सभी उन-उन नामों के अक्षरों की स्थापना है। उनमें चित्र भी होते है। यदि स्थापना और भाव में समान दोष लगने की कल्पना की जाय तो उनको हाथ में लेने से साधु-साध्वी के महाव्रत समाप्त हो जाने चाहिए, पर ऐसा नहीं होता।

शास्त्र तो सभी मुनिगण हाथ में लेकर पढ़ते हैं। उसमें देवलोक के देव-देवियों के चित्र तथा नारकियों के चित्र आदि का सभी स्पर्श करते हैं। वर्तमान पत्रों एवं पुस्तकों में स्त्री-पुरुषों के चित्र पत्ते-पत्ते पर भरे होते हैं, उनका ब्रह्मचारी, मुनिवर आदि भी स्पर्श करते हैं। तो क्या सबके शीलव्रत कायम रहते हैं या भंग हो जाते हैं? चित्रों आदि के स्पर्श से यदि शीलव्रत नष्ट हो जाता हो तो जगत् में शुद्ध ब्रह्मचर्य को पालने वाला कोई मिलेगा ही नहीं। अत: जैसे चित्र, पुरुषादि की स्थापना है और इनका स्पर्श होने से ब्रह्मचारी को दोष नहीं लगता वैसे ही मूर्ति, श्री अरिहन्त देव की स्थापना है, उसे स्त्री आदि का स्पर्श होने से किस प्रकार दोष लग सकता है?

साधु हरी वनस्पति को हाथ नहीं लगाते हैं, फिर भी ग्रन्थों अथवा पुस्तकों में स्थान-स्थान पर झाड़ी या वनस्पतियों के चित्र आते हैं तो उनका स्पर्श करने से क्या वनस्पति के स्पर्श का दोष लगता है? नहीं लगता।

इससे सिद्ध होता है कि भाव अरिहन्त तथा स्थापना अरिहन्त में एक समान दोष आरोपित नहीं हो सकते। ऐसा करने पर महा अनर्थ हो जाता है।

दूसरी बात है - ताले चाबी की, भगवान की स्थापना होने के कारण प्रतिमाजी की रक्षा हेतु मन्दिरों को ताला लगाया जाता है। इससे तो उलटी भक्ति होती है, दोष नहीं लगता तथा भक्ति का परम फल मोक्ष है।

जैसे भगवान की वाणी की स्थापना रखने वाले सूत्रों की रक्षा के लिए उन्हें उत्तम वस्त्रों में लपेट कर अलमारी में रखकर ताला लगाया जाता है तथा साधु-साध्वियों के चित्रों

को सुन्दर फ्रेम में मढ़वा कर भव्य दीवानखानों में टांगा जाता है वैसे ही भगवान की प्रतिमाओं की रक्षा के लिए श्री जिन मन्दिर तथा उसके गर्भद्वार पर ताला लगाया जावे या रक्षा हेतु कोई अन्य प्रबन्ध किया जावे तो इसमें क्या दोष है? यदि ऐसा नहीं किया जावे तो दुष्ट लोग आशातना आदि करते हैं और उसका दोष रक्षा नहीं करने वाले को लगता है।

प्रश्न 30 - क्या मूर्ति में वीतराग के गुण हैं?

उत्तर - एक अपेक्षा से हैं तथा एक अपेक्षा से नहीं भी है। पूजक व्यक्ति उसमें वीतराग भाव का आरोपण कर पूजा करता हैं, तब वह मूर्ति वीतराग समान ही बनती है तथा वीतराग की भक्ति जितना ही फल देती है। इस दृष्टि से श्री जिनमूर्ति श्री जिनवर के समान है। दुष्ट परिणाम वाले व्यक्ति को मूर्ति के दर्शन से कोई लाभ नहीं होता, परन्तु इसके विपरीत अशुभ परिणाम से कर्मबन्धन होता है। इसके बजाय हम यह कह सकते हैं कि मूर्ति वीतराग के समान नहीं है पर इससे इसकी तारक शक्ति चली नहीं जाती। शक्कर मीठी होते हुए भी गधे को नहीं रुचती है, बल्कि नुकसान करती है, पर इससे शक्कर का स्वाद नष्ट नहीं होता। वैसे ही मूर्ति भी मिथ्यादृष्टि जीवों को रुचिकर नहीं होती, पर इससे उसकी मोक्षदायकता चली नहीं जाती।

प्रश्न 31 - मूर्ति यदि जिनराज तुल्य है तो इस पंचम आरे में तीर्थंकर का विरह क्यों कहा गया है?

उत्तर - भरतक्षेत्र में पंचम आरे में तीर्थंकर का विरह बताया है, यह भाव तीर्थंकर की अपेक्षा से कहा गया है न कि स्थापना अरिहन्त की अपेक्षा से। किसी गाँव में साधु न हो पर उनकी तस्वीर हो तो भी ऐसा कहा जाता है कि, 'इस गाँव में आजकल कोई साधु नहीं विचरते' तो वह विरह भाव साधु का ही समझा जाता है। कोई ऐसा नहीं मानता कि 'इस गाँव में साधु की तस्वीर का भी अभाव है।'

प्रश्न 32 - एक क्षेत्र में दो तीर्थंकर नहीं होते हैं, प एक ही भवन में अनेक मूर्तियों को क्यों एकत्र किया जाता है?

उत्तर - यह विषय भी स्थापना सम्बन्धी है और जो निषेध है वह भाव अरिहन्त के सम्बन्ध में है। जैसे सभी तीर्थंकर सिद्धगति को प्राप्त होते हैं तब अनन्ती चौबीसी के तीर्थंकर एक ही क्षेत्र (द्रव्य-निक्षेप से) में रहते हैं वैसे (स्थापना-निक्षेप से) एक ही मंदिर में एक सौठ आठ अथवा उससे भी अधिक प्रतिमाओं के रहने में कोई बाधा नहीं है।

स्थापना को भी एक साथ रखने में यदि कोई बाधा होती तो श्री जम्बूद्वीप में सैकड़ों पर्वत, नदी, गुफाएँ आदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर हैं, पर इनको एक ही नक्शे में एकत्र कर लोगों को कैसे समझाया जाता है? सूत्रों में सभी तीर्थंकरों के नाम की स्थापना जैसे एक ही कागज पर की जाती है तथा नाम अरिहन्त एवं द्रव्य अरिहन्त को भी एक साथ रहने में जैसे

कोई बाधा नहीं आती है, वैसे स्थापना अरिहन्त को भी एक ही मकान में रहने में कोई बाधा नहीं आती है। जो बाधा है वह भाव अरिहन्त को ध्यान में रखकर बताई गई है।

प्रश्न 33 - क्या गुरु का चित्र देखकर शिष्य एवं पिता का चित्र देखकर पुत्र खड़ा होगा? आदर देगा? श्वसुर की तस्वीर देखकर पुत्रवधू घूंघट निकालेगी? यदि नहीं तो फिर मूर्ति को मानने का आग्रह किसलिए?

उत्तर - शिष्य अपने गुरु की तथा पुत्र अपने पिता की तस्वीर का आदर नहीं करेगा तो क्या अपमान करेगा? अथवा कोई शत्रु यदि उन तस्वीरों के मुख पर काजल पोतना चाहेगा तो क्या वे ऐसा करने देंगे? क्या वे इसको सहन करेंगे? अथवा तस्वीरों को केवल कागज तथा स्याही का रूप मानकर रास्ते में लोगों के पैरों तले कुचलने के लिए फेंक देंगे? ऐसे कार्य किसी ने किये नहीं और यदि कोई करता है तो वह विचारकों की दृष्टि में कपूत एवं हँसी का पात्र गिना जायेगा। इस प्रकार का आचरण साक्षात् गुरु और साक्षात् पिता का अपमान करने के तुल्य ही गिना जाता है। इसके विपरीत उन चित्रों को अच्छी फ्रेम में लगाकर मेज या सिंहासन पर ऊँचे स्थान पर रखें अथवा दीवार पर स्वच्छता से लगावें तो इसे गुरु अथवा पिता का आदर करना ही माना जायेगा तथा इसे देखकर अपने गुरु अथवा पिता की याद आये बिना भी नहीं रहेगी।

दूसरी बात - शिष्य अथवा पुत्र, गुरु अथवा पिता के नाम का आदर करे या नहीं? यदि करता है, तो नाम की अपेक्षा चित्र से तो विशेष याद आती है, ऐसी दशा में उसे उसका विशेष विनय आदि करना चाहिए।

साथ ही यह तर्क भी व्यर्थ है कि पुत्रवधू श्वसुर की तस्वीर को देखकर घूंघट नहीं निकालती। जैसे तस्वीर देखकर शर्म नहीं करती वैसे ही नाम सुनकर भी घूंघट नहीं निकालती है तो फिर परमात्मा का नाम भी निरर्थक ही समझना चाहिए। इसके विपरीत श्वसुर को पहले नहीं देखा हो तो उसका चित्र देखकर बहू को इस बात का ज्ञान होगा कि - 'ये मेरे श्वसुर है।' वैसे ही जिन्होंने भगवान को नहीं देखा है वे मूर्ति से पहचान जायेंगे कि ये भगवान है।

श्वसुर की पहचान होते ही बहु को घूंघट निकालने की शंका नहीं रहती, जिससे लाज करने-न-करने का कार्य सुगम हो जाता है। वह श्वसुर को पहचान कर तुरन्त घूंघट निकालती है तथा दूसरों को देखकर नहीं निकालती। वैसे ही मूर्ति द्वारा प्रभु की पहचान होने पर असेव्य के परित्याग का तथा सेव्य की सेवाभक्ति करने का कार्य सुगम बन जाता है और किसी भी प्रकार के भ्रमजाल में पड़ने का भय नहीं रहता। मूर्ति का यह भी एक महान् उपकार है।

प्रश्न 34 - भगवान की मूर्ति ही यदि भगवान है तो पापी चोर उनके आभूषण कैसे चुरा कर ले जाते है? लोग उनकी हजारों की रकम कैसे

हजम कर जाते हैं? दुष्ट लोग उनकी मूर्ति को कैसे खण्डित कर जाते हैं? और यदि भगवान सर्वज्ञ है तो उनकी मूर्ति को धरती से खोदकर क्यों निकालनी पड़ती है? शासनदेव यह कार्य क्यों नहीं करते?

उत्तर - यह प्रश्न ही मुर्खतापूर्ण है। श्री वीतराग के गुणों का आरोपण कर भक्ति के लिए जड़ वस्तु से बनी मूर्ति जमीन में से अपने आप क्यों नहीं निकलती अथवा उसके अलंकार आदि को चोरी करते हुए पापी लोगों को शासनदेवता क्यों नहीं रोकते? इसका उत्तर यह है कि जड़ स्थापना में यह शक्ति कहाँ से आवे? तथा शासनदेव प्रत्येक प्रसंग पर आकर उपस्थित हो जावें, ऐसा नियम कहाँ हैं?

भगवान श्री महावीरदेव के जीवनकाल में उनकी सेवा में लाखों देव उपस्थित रहते थे, फिर भी मंखलि पुत्र गोशाला ने भगवान पर तेजोलेश्या फेंकी और उससे उन्हें खून के दस्त की व्याधि हुई। उस समय शासनदेवों ने कुछ नहीं किया, इससे क्या उनकी भक्ति में अन्तर आ गया? कितने ही भाव ऐसे होते हैं कि जिनको देवता भी नहीं बदल सकते। जिस समय जो होना है वह किसी काल में भी मिथ्या नहीं होता। स्वयं श्री तीर्थंकर महाराजा से दीक्षा ग्रहण करके अनेक स्त्री-पुरुष उनके विरोधी हुए हैं, अनेक प्रकार के पाखंडी मत उन्होंने स्थापित किये हैं तथा भगवान की निन्दा की है, तो क्या सर्वज्ञ भगवान इस बात को नहीं जानते थे कि ये पाखण्डी चारित्र की विराधना करेंगे और मिथ्यात्व का प्रचार करेंगे? सब कुछ जानते थे तो फिर उन्हें दीक्षा क्यों दी? केवल इसलिए कि ऐसे भाविभाव आदि को भी ये तारक जानते थे।

वर्तमान में श्री वीतराग का धर्म अति अल्प प्रमाण में रह गया है। उसमें भी अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न शाखाएँ पड़ी है तथा चलनी की तरह छेद हो गये हैं। मिथ्यात्व एवं दुराग्रह के अधीन व्यक्ति उत्सूत्र भाषण करने में कुछ बाकी नहीं रखते। तब फिर ऐसे निन्दक तथा प्रतिक्रियावादियों को रोककर शासनदेव सत्यमार्ग का उपदेश क्यों नहीं देते? लोगों को महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमन्धर स्वामी के पास ले जाकर उनके दर्शन कराकर शुद्ध धर्म का प्रतिबोध क्यों नहीं करवाते? अतः देवताओं के हाथों से भी जो-जो चमत्कारी कार्य होने लिखे होते हैं, वे ही होते है, उनसे अधिक नहीं, ऐसा मानना चाहिए।

अभी हाल में भी बहुत सी मूर्तियाँ, जैसे कि श्री भोयणीजी में श्री मल्लिनाथ भगवान तथा श्री पानसर में श्री महावीर स्वामी भगवान आदि के लिए शासनदेव स्वप्न में आकर अनेक प्रकार के चमत्कार बताते हैं। असंख्य वर्षों से मूर्तियों की रक्षा भी करते हैं। इसके अतिरिक्त कई उपसर्गादि का निवारण भी करते हैं और बहुतों का नहीं भी करते हैं, क्योंकि हर बार शासनदेव सहायता करें, ऐसा नियम नहीं है।

आज के युग में कई मुर्ख लोग श्री जिनमन्दिर में चोरी आदि करने का दुष्ट कर्म करते

हैं तो उसका फल वे अवश्य भुगतेंगे। इससे शासनदेवताओं को कलंक नहीं लगता अथवा इससे स्थापना अरिहन्त की महिमा भी नहीं घटती। अरिहन्त की महिमा तो तभी कम हो सकती है, जबकि स्थापना अरिहन्त के भक्तों को इस भक्ति से वीतराग परमात्मा के गुणों आदि का स्मरण न होता हो, उनको वीतराग भाव, देशविरति अथवा सर्वविरति के परिणाम, संयम और तप की ओर वीर्योल्लास, भवभ्रमण का निवारण अथवा मोक्षसुख की निकटता आदि न होती हो। इन सभी लाभों से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता।

प्रश्न 35 - निरंजन निराकार की मूर्ति किस प्रकार बन सकती है?

उत्तर - तमाम मतों के देव तथा शास्त्रों के रचयिता निराकार नहीं हुए, साकार ही हुए हैं। देहधारी के सिवाय कोई भी शास्त्रों की रचना नहीं कर सकता और न मोक्षमार्ग ही बता सकता है। सभी शास्त्र अक्षर स्वरूप हैं। अक्षरों का समूह तालु, ओष्ठ, दाँत आदि स्थानों से उत्पन्न होता है और वे स्थान देहधारी के ही होते हैं और इसीलिए ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की मूर्ति अवश्य हो सकती है।

मोक्षगामी होने के पश्चात् वे अवश्य निराकार बन जाते हैं, फिर भी उनकी पहिचान के लिए मूर्ति की आवश्यकता रहती है। जिस प्रकार शास्त्रों के रचने वाले देहधारियों के मुख से निकले हुए अक्षरों के समूह किसी विशेष आकार के नहीं होते हैं; यद्यपि उनके आकार की कल्पना करके, उनको शास्त्रों के कागजों पर अंकित किया गया है और इसी से उनका बोध होता है। वैसे ही निराकार सिद्ध भगवान का आकार भी इस दुनिया में, उनके अन्तिम भव के अनुसार कल्पना करके मूर्ति रूप में उतारा जाता है। इससे निराकार सिद्ध भगवान का स्वरूप भी समझा जा सकता है तथा साक्षात् सिद्ध के रूप में उनका ध्यान करने वालों की सभी मनोकामनाएँ भी पूर्ण होती हैं।

ऐसा एक नियम है कि किसी भी निराकार वस्तु का परिचय कराना हो तो उसे साकार बनाकर ही किया जा सकता है। इसके लिए प्रसिद्ध दृष्टान्त सभी प्रकार की लिपियों का है। अपने मन के आशय को दूसरे के शब्दों द्वारा स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है और ये शब्द जिन वर्णों के बने होते हैं उन वर्णों को भिन्न-भिन्न आकार देने से ही उनके अर्थ का स्पष्ट ज्ञान कराया जाता है। वर्णों को क, ख, ग, घ अथवा आकार नहीं दिया जावे तथा सबकी आकृति एक समान कर दी जाय तो किसी को भी बोध हो सकता है क्या? नहीं। इसलिये निराकार वस्तु का स्पष्ट बोध उसे आकार प्रदान किये बिना नहीं कराया जा सकता।

प्रश्न 36 - इस युग में बुद्धिजीवी लोग मूर्ति को नहीं मानते हैं, केवल जड़ लोग ही मानते हैं, क्या यह बात ठीक है?

उत्तर - यह बात सर्वथा असत्य है। किसी भी काल के बुद्धिमान् लोगों का कार्य मूर्ति को माने सिवाय चलता ही नहीं। कोई प्रत्यक्ष रूप से मानते हैं और कोई परोक्ष रूप से।

सभी अपने-अपने धर्मोपदेशकों को मानते हैं। वे देहधारी होते हैं और इसलिए उनका आकार भी होता है। अपने मत के उपदेशक को पहचानने के लिए उनके देहाकार का उपयोग किये बिना क्या उनका काम चलता है? नहीं चलता।

यूरोप, अमेरिका, एशिया तथा अफ्रिका आदि भिन्न-भिन्न खण्डों तथा उनमें बसे विभिन्न नगरों, नदियों, पर्वतों आदि का ज्ञान देने के लिए प्रत्येक मनुष्य को उन-उन देशों के नक्शों आदि का आलम्बन लेना ही पड़ता है। किसी भी नए घर, हाट, हवेली, दुकान, महल अथवा गढ़ को बनाते समय उसके पूर्व उसका प्लान तैयार करना ही पड़ता है। यह मूर्ति नहीं तो और क्या है?

प्रत्येक धर्मानुयायी शास्त्र तथा माला को तो मानते ही हैं। जैसे वचन की स्थापना शास्त्र है वैसे माला भी अपनी-अपनी मानी हुई इष्ट वस्तुओं की अथवा उनके गुणों की स्थापना ही है। अन्यथा संख्याविशेष मणकों की ही माला होनी चाहिए, ऐसा नियम नहीं हो सकता।

प्रत्येक मत वाले अपने इष्टदेव को पूजने हेतु किसी-न-किसी प्रकार के आकार को मानते ही हैं, अब इस बात को दूसरे ढंग से स्पष्ट करें।

1. ईसाइयों में रोमन केथोलिक ईसा की मूर्ति को मानते हैं। प्रोटेस्टेन्ट ईसा की स्मृति तथा उन पर की श्रद्धा को जीवित रखने के लिए उनको दी हुई सुली के निशान क्रोस को हमेशा अपने पास रखते हैं। ज्ञान की स्थापना रूप बाइबिल का आदर करते हैं, अपने पूज्य पादरियों के चित्र अपने पास रखते हैं तथा उनकी प्रतिमाओं, पुतलों तथा कब्रों का बड़ा आदर करते हैं।

मुसलमान नमाज के समय पश्चिम में काबा की तरफ मुँह रखते हैं। क्या खुदा पश्चिम के सिवाय अन्य दिशा में नहीं? तो फिर पश्चिम में मुँह रखने की क्या जरूरत? काबा की यात्रा पश्चिम दिशा में होती है इसलिए पश्चिम की ओर नजर रक्खी जाती है। तब फिर इसे भी खुदा की स्थापना ही माना जाय। मक्का मदीना हज करने जाते है तथा वहाँ काले पत्थर का चुम्बन करते हैं, टेढ़े होकर नमन करते हैं, प्रदक्षिणा देते हैं और उस तरफ दृष्टि स्थिर रखकर नमाज पढ़ते हैं। उसकी यात्रा के लिए हजारों रुपये खर्च करते हैं। उस पत्थर को पापनाशक मानकर उसका खूब सम्मान करते हैं।

जब अनघड़ पत्थर भी ईश्वर तुल्य सम्मान के योग्य है तथा उसके सम्मान से पापों का नाश होता है तो परमात्मा के साक्षात् स्वरूप की बोधक प्रतिमाएँ ईश्वर तुल्य क्यों नहीं? उनका आदर, सम्मान व भक्ति करने वालों के पापों का नाश क्यों नहीं होगा? क्या परमेश्वर सर्वत्र नहीं है कि जिससे मक्का मदीना जाना पड़ता है। अत: मानना पड़ेगा कि मन की स्थिरता के लिए मूर्ति के रूप में अथवा अन्य किसी रूप में स्थापना को मानने की

आवश्यकता होती ही है।

2. मुस्लिम तायूत (ताजिया) यनाते हैं, यह भी स्थापना ही है, उसे लोभान का धूप कर पुष्प-हार आदि चढ़ाकर अच्छे ढंग से उसका आदर करते हैं। शुक्रयार को शुभ दिन मानकर सामान्य मस्जिद में तथा ईद के दिन यड़ी मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ते हैं। ये मस्जिदें भी स्थापना ही हैं। कुरान शरीफ को खुदा का यचन मानकर सिर पर चढाते हैं, यह भी स्थापना ही है। औलिया, फकीर, मारां साहय, ख्याजा साहय आदि दरगाहों की यात्रा करते हैं तथा यहाँ स्थित मजारों पर पुष्पहार, मेया, मिठाई आदि चढ़ाकर यन्दन-पूजन आदि करते हैं तो यह भी स्थापनातुल्य नहीं तो और क्या है? मस्जिदों, मक्कामदीना, फकीरों आदि की तस्यीर खिंचयाकर अपने पास रखते हैं, यह भी स्थापना ही है।

इस प्रकार कई प्रकार से मुसलमान भी अपनी मानी हुई पूज्य वस्तुओं की मूर्ति को एक समान मान देते हैं।

3. पारसी लोग अग्नि को मानते है और यह भी एक प्रकार की स्व-इष्ट देव की स्थापना ही है।

4. नानकपंथी गुरु नानक के पश्चात् उनकी गद्दी पर बैठने याले जितने भी गद्दीपति हुए उन सयकी लिखी पुस्तकों को परमेश्वर तुल्य मान कर भक्ति करते हैं। ग्रन्थ को यिराजमान करते समय यड़े-यड़े जुलूस निकालते हैं, सुसज्जित भयनों में ऊँचे आसन पर रखकर उनके समक्ष नाट्य आदि करते हैं तथा उनका रात-दिन गुणगान करते हैं। पुस्तकें भी अक्षरों की स्थापना ही है।

5. कबीरपंथी कबीर की गद्दी को पूजते हैं। कोई उनकी पादुकाओं को पूजता है और सभी उनकी रचित पुस्तकों को सिर पर चढ़ाते हैं।

6. दादूपंथी दादूजी की स्थापना तथा उनकी याणी रूप ग्रन्थ को पूजते हैं। समाधि-स्थल यनयाकर उसमें गुरु के चरणों को प्रतिष्ठित करते हैं और उनकी पूजा करते हैं।

7. वेदों में भी मूर्तिपूजा के अनेक पाठ हैं। अत: आर्यसमाजियों का मूर्ति का खण्डन करना सर्वथा अनुचित है। उनके स्वामी दयानन्द शरीरधारी मूर्तिमय थे, वेद-शास्त्रों की अक्षर रूप में स्थापना को वे मानते थे तथा स्वरचित सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकों में अपनी वाणी की आकृतियों द्वारा ही बोध करते तथा करवाते थे। इन आकृतियों का आश्रय यदि नहीं लिया होता तो किस तरह अपने मत की स्थापना कर सकते थे?

जिस मूर्ति अथवा आकृति का आश्रय लेकर अपना काम निकाला उसी मूर्ति का अनादर करना बुद्धिमानी का काम नहीं है। दयानन्द यदि मूर्ति को नहीं मानते होते तो अपने सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ में अग्निहोत्र समझाने के लिये थाली, चम्मच आदि के चित्र खींचकर अपने भक्तवर्ग को समझाने का प्रयत्न क्यों करते?

जो बात एक साधारण चित्रकार भी समझ सकता है, उसे समझने के लिए उनके विद्वान् कहलाने वाले शिष्य भी क्या असमर्थ थे? तो फिर महान् ईश्वर तथा उसका स्वरूप, ईश्वर की मूर्ति बिना वे किस प्रकार समझ सकते थे? स्वामीजी की तस्वीर उनके भक्तों द्वारा स्थान-स्थान पर रखने में आती है। यदि ऐसे संसारस्थित व्यक्ति की भी तस्वीर के रूप में रहने वाली मूर्ति के दर्शन से स्वार्थ साधा जा सकता है, ऐसा मानते हो तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा गुरु के भी गुरु ऐसे परमेश्वर की मूर्ति के दर्शन आदि से स्व-इष्ट नहीं साधा जा सके, ऐसा कैसे माना जा सकता है?

आर्यसमाजी भी अग्नि को पूजते हैं। उसमें घी आदि डालकर होम करते हैं तो क्या वह अग्नि उनकी दृष्टि में जड़ नहीं है? सूर्य के सामने खड़े रहकर 'ईश्वर-प्रार्थना' करते हैं तो वह सूर्य आदि क्या जड़ नहीं है? तब फिर परमेश्वर की मूर्ति से दूर क्यों भागते हैं? मूर्ति कृत्रिम है और सूर्य, अग्नि आदि कृत्रिम नहीं, ऐसा कहते हो तो उनके गुरुओं का वेश कृत्रिम हैं या अकृत्रिम? शास्त्र कृत्रिम है या अकृत्रिम? उनको आदर कैसे देते हो? अत: जो वस्तु पूजनीय है वह चाहे कृत्रिम हो या अकृत्रिम उसको पूजना ही चाहिए, ऐसी सबके अन्त:करण की पुकार है।

इस प्रकार प्रत्येक पंथ के अनुयायी अपनी-अपनी पूजनीय वस्तुओं के आकार की किसी-न-किसी ढंग से पूजा करते ही हैं। इससे प्रतीत होता है कि मूर्तिपूजा बालक से लगाकर पण्डित तक सभी को मान्य है।

प्रश्न 37 - गुरु साक्षात् रूप में उपदेश देते हैं वैसे मूर्ति कभी उपदेश नहीं देती अथवा देने वाली नहीं तो फिर साक्षात् गुरु को छोड़कर जड़ मूर्ति की उपासना करने से क्या लाभ?

उत्तर - सबसे पहले यह समझना चाहिए कि गुरु भी उपदेश किसको दे सकते हैं? जो शून्य हृदय वाले हैं, उन्हें गुरु भी उपदेश कैसे दे सकते हैं? गुरु का उपदेश समझने के लिए जैसे पहले शास्त्राभ्यास करना पड़ता है तथा समझने की शक्ति प्राप्त करनी पड़ती है और बाद में ही वह समझा जाता है, वैसे ही मूर्तिपूजा के लिए भी जिसकी मूर्ति की पूजा करनी हो उसके गुणों का स्वरूप समझकर फिर उसकी पूजा की जाय तो लाभ क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा।

फिर - 'गुरु उपदेश देते हैं व मूर्ति उपदेश नहीं देती' - इस कारण ही यदि गुरु

पूजनीय हों और मूर्ति पूजनीय न हो तो स्वर्गवासी सभी गुरु अपूजनीय ही बनेंगे, क्योंकि वे उपदेश तो देते नहीं है। तो फिर उनको भी हाथ जोड़ना या नमस्कारादि करना छोड़ देना पड़ेगा।

आगे चलकर कहा जाय कि गुरु उपदेश क्यों देते हैं? क्या उपदेश द्वारा स्व-पर-हित साधकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए? यदि उपदेश देने में गुरुओं का यही ध्येय हो तो मोक्षप्राप्ति के पश्चात् अशरीरी अवस्था में वे किस प्रकार उपदेश दे सकेंगे? इससे तुम्हारी दृष्टि में मोक्ष में जाने के बाद वे अपूज्य होंगे और उतने ही पूज्य रहेंगे जितन कि मोक्ष के इरादे अर्थात् अशरीरी बनने के इरादे से उपदेश न दें और केवल इस चतुर्गति रूप संसार में सदा काल भटकने वाले बनें रहें, इस इरादे से उपदेश दें। क्योंकि इसके बिना उनके द्वारा सदा काल बोध नहीं दिया जा सकता और यदि वे बोध न दें तो तुम्हारी दृष्टि से पूजनीय नहीं गिने जायेंगे। परन्तु बोध देने के लिए आहार लेना पड़े, निहारादि करना पड़े, वे भी तुम्हारी दृष्टि में पूजनीय और मोक्ष में जाने के बाद अनाहारी बनने वाले पूज्य नहीं।

'उपदेश करें वे ही उत्तम' ऐसा मानने पर अन्त में, आहार करे वह उत्तम और आहार नहीं करे वह उत्तम नहीं' - ऐसा मानने का प्रसंग आ पड़ेगा। अत: सदुपदेशादि करें वे तो उत्तम है ही परन्तु जो ऐसे शुभ कार्य करके निवृत्त बन चुके हैं वे तो उनसे भी उत्तम हैं, ऐसा मानना ही चाहिए।

'मूर्ति उपदेश नहीं देती अत: पूजनीय नहीं और गुरु उपदेश देते हैं अत: पूजनीय हैं' ऐसी अज्ञानपूर्ण बातें करने वाले तत्त्व को नहीं समझते। उपदेशादि देकर जो धन्य बन चुके हैं, ऐसे सिद्ध भगवन्तों की मूर्ति तो उपदेश देने वाले गुरुओं से भी अधिक पूजनीय है क्योंकि गुरुजन उनका आलम्बन लेकर ही गुरु बन सके हैं। जो सिद्ध भगवन्तों की पूजा करने से इन्कार करते हैं उनके समान कृतघ्न इस जगत् में दूसरा कोई भी नहीं।

प्रश्न 38 - बहुत लोग कहते हैं कि केवल मूल सूत्र को मानना चाहिए, टीका आदि पीछे से बनी हैं अत: उनको नहीं मानना चाहिए। तो इसमें क्या तथ्य है?

उत्तर - मूलसूत्रों में कहा है कि **'गणहरा गंथंति अरिहा भासइ।'** श्री गणधर भगवन्त सूत्र को गूंथते हैं और श्री अरिहन्त भगवन्त अर्थ कहते हैं। केवल मूलसूत्र को मानने का कहने वाले छद्मस्थ गणधर भगवन्तों का वचन मानने को कहते हैं तथा केवलज्ञानियों द्वारा बताये हुए अर्थ जिनमें भरे हुए हैं ऐसे टीका, चूर्णि, भाष्य तथा निर्युक्ति आदि शास्त्रों को मानने से इन्कार करते हैं। छद्मस्थ गणधरों का कहा मानना और केवलज्ञानी भगवान का कहा नहीं मानना, क्या यह उचित है? इस कारण शास्त्रों में स्थान-स्थान पर निर्युक्ति आदि को मानने के लिये उपदेश दिया है। कहा है कि -

सुतत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइयो य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगो ।।3।।

अनुयोग अर्थात् व्याख्यान के तीन प्रकार है। सर्वप्रथम केवल सूत्र और उसका अर्थ दूसरा अनुयोग निर्युक्ति से मिश्र तथा तीसरा भाष्य-चूर्णि आदि सभी से। इस प्रकार अनुयोग अर्थात् अर्थ कहने की विधि तीन प्रकार की है।

सूत्र तो केवल सूचना रूप होते हैं। उनका विस्तृत विवरण तो पंचांगी से ही मिलता है। जो पंचांगी को मानने से इन्कार करते हैं वे भी गुप्त रूप से टीका आदि देखते हैं, तभी उनको अर्थ का पता लगता है।

और शास्त्र कहते हैं कि दस पूर्वधर के वचन सूत्र तुल्य होते हैं। निर्युक्तियों के रचयिता श्री भद्रबाहुस्वामीजी चौदह पूर्वधर हैं। भाष्यकार श्री उमास्वातिजी वाचक पाँच सौ प्रकरणों के रचने वाले दश पूर्वधर हैं। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी पूर्वधर हैं। इसलिए उनके वचन सभी प्रकार से मानने योग्य हैं। चूर्णिकार भी पूर्वधर हैं। टीकाकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज आदि भी भवभीरु, बुद्धिनिधान तथा देवसान्निध्य वाले हैं। अत: उनके वचनों को प्रमाणरहित मानना भयंकर अपराध हैं।

प्रत्येक भवभीरु आत्मा का यह कर्तव्य है कि इन प्रामाणिक महापुरुषों के एक भी वचन के प्रति अज्ञानवश भी कोई दुर्भाव न आने पावे इसके लिये सम्पूर्ण रूप से सतर्क रहे।

प्रश्न 39 - आगम पैतालीस कहे जाते हैं फिर भी कई लोग बत्तीस ही मानते हैं तो क्या यह उचित है?

उत्तर - नहीं। बत्तीस आगम मानने वाले भी श्री नंदीसूत्र को मानते हैं, जिसमें तमाम सूत्रों की सूचि दी गई है। उसमें दिये हुए अनेक सूत्रों में से केवल बत्तीस ही मानना और दूसरों को नहीं मानना, इसका क्या कारण है? बत्तीस के सिवाय अन्य नये लिखे हुए हैं, ऐसा कहा जाय तो ये बत्तीस भी नये लिखे हुए नहीं है, इसका क्या प्रमाण है? यदि परम्परा प्रमाण है तो इसी प्रामाणिक परम्परा के आधार पर दूसरे सूत्रों को भी मानना चाहिए।

बत्तीस सूत्रों के मानने वालों को इन बत्तीस में नहीं कही हुई ऐसी भी बहुत सी बातें माननी पड़ती है। बीस विहरमान का अधिकार, धन्ना-शालिभद्रचरित्र, नेम-राजुल के भव, रामायण आदि बहुतसी वस्तुएँ बत्तीस आगमों में नहीं हैं, फिर भी उनको माननी पड़ती हैं। बत्तीस सिवाय के अन्य सूत्र परस्पर नहीं मिलते, इसलिए नहीं मानते यदि ऐसा कहा जाय तो बत्तीस में भी कई स्थानों पर विरोध दिखाई देता हैं, इसका क्या कारण? यह विरोध निर्युक्ति, भाष्य और टीका आदि को माने बिना नहीं हट सकता।

कितने ही वचन उत्सर्ग के होते हैं व कितने ही अपवाद के। कितने ही विधिवाक्य होते हैं व कितने ही अपेक्षावाक्य। कितने ही पाठान्तर,

कितने ही भयसूत्र और कितने ही यर्णनसूत्र होते हैं। इस प्रकार सूत्र अनेक भेद वाले होते हैं। उनके गम्भीर आशय को समुद्र के समान बुद्धि के स्वामी टीकाकार आदि ही समझ सकते हैं, अन्य तो उनके विषय का स्पर्श भी नहीं कर सकते।

इसके उपरान्त भी तुच्छ बुद्धि वाले लोग अपनी बुद्धि की कल्पना से चाहे जो कहें, पर ऐसे लोग जो कुछ भी कहते हैं उसे असत्य और अप्रामाणिक ही समझना चाहिए।

प्रश्न 40 - श्री जिनप्रतिमा सम्बन्धी उल्लेख कौन-कौन से सूत्रों में हैं?

उत्तर - सूत्रों में जिनप्रतिमा और उनकी पूजा के सम्बन्ध में सैकड़ों उल्लेख प्राप्त होते हैं।

श्री महाकल्पसूत्र, श्री भगवतीसूत्र, श्री उववाई सूत्र, श्री आचारांग, श्री ज्ञातासूत्र, श्री उपासकदशांगसूत्र, श्री कल्पसूत्र, श्री व्यवहारसूत्र, श्री आवश्यकसूत्र, श्री शालिभद्रचरित्र, श्री रायपसेणीसूत्र तथा अन्य महत्त्वपूर्ण शास्त्रों के कतिपय उल्लेखों को आगामी पृष्ठों में अर्थ सहित दिया जा रहा है।

यदि प्रतिमापूजन का प्रचलन न होता तो मूलसूत्रों व अन्य ग्रन्थों में इसका उल्लेख क्यों किया जाता? इस तथ्य पर पाठ स्वयं विचार करें।

शास्त्र-दर्पण में जिन-पूजा

(1)

श्री महाकल्पसूत्र में एक स्थान पर श्री गौतमस्वामी पूछते हैं -

से भयवं तहारूवे समणे वा माहणे वा चेइयघरे गच्छेज्जा?

हंता। गोयमा। दिणे दिणे गच्छेज्जा। से भयवं जत्थ दिणे न गच्छेज्जा तओ किं पायच्छित्तं हवेज्जा? गोयमा। पमायं पडुच्च तहारुवे समणे वा माहणे वा जो जिणघरं न गच्छेज्जा तओ छट्ठं अहवा दुवालसमं पायच्छित्तं हवेज्जा।

से भयवं समणोवासगस्स पोसहसालाए पोसहिए पोसहबंभयारी किं जिणहरं गच्छेज्जा?

हंता ! गोयमा ! गच्छेज्जा

से केणट्ठेणं गच्छेज्जा?

गोयमा ! णाणदंसणचरणट्ठाए गच्छेज्जा।

जे केइ पोसहसालाए पोसहबंभयारी जओ जिणहरे न गच्छेज्जा तओ पायच्छित्तं हवेज्जा?

गोयमा। जहा साहू तहा भाणियव्वं छट्ठं अहवा दुवालसमं पायच्छित्तं हवेज्जा।

''हे भगवन्! तथारूप श्रमण अथवा माहण तपस्वी चैत्यघर अर्थात् जिनमन्दिर में जावें?'' भगवान् कहते हैं - ''हाँ गौतम! सर्वदा प्रतिदिन जावें।''

गौ. - ''हे भगवन्! यदि वह नित्य नहीं जावे तो प्रायश्चित्त आता है?''

भ. - ''हाँ गौतम! प्रायश्चित्त आता है।''

गौ. - ''हे भगवन्! क्या प्रायश्चित्त आता है?''

भ. - ''हे गौतम! प्रमाद के वश होकर तथारूप श्रमण अथवा माहण यदि जिनमन्दिर नहीं जावें ते छट्ठ (दो उपवास) का प्रायश्चित्त आता है अथवा पाँच उपवास का प्रायश्चित होता है।''

गौ. - ''हे भगवन्! जिनमन्दिर क्यों जाते है?''

भ. - ''हे गौतम! ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की रक्षा के लिये जाते है।''

गौ. - ''हे भगवन्! यदि कोई श्रमणोपासक श्रावक, पौषधशाला में पौषध में रहते हुए ब्रह्मचारी जिनमन्दिर नहीं जावे तो प्रायश्चित्त आता है?''

भ. - ''हाँ, गौतम! प्रायश्चित्त आता है। हे गौतम! जिस प्रकार साधु को प्रायश्चित्त, वैसे ही श्रावक के लिए भी प्रायश्चित्त समझना। वह प्रायश्चित्त छट्ठ अथवा पाँच उपवास का होता है।''

(2)

श्री महाकल्प सूत्र

''तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव तुंगीयाए नयरीए बहवे समणोयासगा परियसंति संखे, सयगे, सिलप्पयाले, रिसिदत्ते, दमगे, पुक्खली, निबद्धे, सुपइट्ठे, भाणुदत्ते, सोमिले, नरवम्मे, आणंदकाम-देवाइणो जे अन्नत्थ गामे परियसंति इड्ढा दित्ता यिच्छिन्नविपुलयाहणा जाव लद्धट्ठा, गहियट्ठा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिण सु पडिपुन्नं पोसहं पालेमाणा निग्गंथाण य निग्गंथीण य फासुएणं एसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं जाव पडिलाभेमाणा चेइयालएसु तिसंज्झं चंदणपुप्फ-धूव-वत्थाइहिं अच्चणं कुणमाणा जाव विहरंति से तेणट्ठेणं गोयमा! जो जिणपडिमं न पुएइ सो मिच्छदिट्ठि जाणियव्वो, मिच्छदिट्ठिस्स नाणं न हयइ, चरणं न हयइ, मुक्खं न हयइ, सम्मदिट्ठिस्स नाणं चरणं मुक्खं च हयइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! सम्मदिट्ठिसड्ढेहिं जिणपडिमाणं सुगंधपुप्फचंदणविलेयणेहिं पूया कायव्वा।''

''तुंगी, सावत्थी आदि नगरों के श्रावक शंखजी, आनंद, कामदेव आदि ने त्रिकाल श्री जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा की है तथा जिन पूजा करने वाला सम्यग्दृष्टि है, नहीं करने वाला मिथ्यादृष्टि है तथा पूजा मोक्ष के लिये की जाती है।''ऐसा उपर्युक्त पाठ श्री महाकल्प सूत्र में है जिसका भावार्थ निम्नानुसार है -

''उस समय तुंगीया नगरी में बहुत से श्रावक रहते थे। 1 शंख, 2 शतक, 3 सिलप्पवाल, 4 ऋषिदत्त, 5 द्रमक, 6 पुष्कली, 7 निबद्ध, 8 भानुदत्त, 9 सुप्रतिष्ठ, 10 सोमिल, 11 नरवर्म, 12 आनंद और 13 कामदेव प्रमुख जो दूसरे गाँव में रहते हैं, धनवान, तेजवान, विस्तीर्ण व बलवान हैं। जिन्होंने सूत्र में अनेक अर्थ प्राप्त किये है तथा सूत्र के अर्थ ग्रहण किये है तथा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा की तिथियों के दिन प्रतिपूर्ण पौषध करने वाले, साधु-साध्वी को प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खादिम,

स्वादिम का प्रतिलाभ करते विचरते हैं, जिनमन्दिरों में जिनप्रतिमाओं की त्रिकाल चन्दन, पुष्प, वस्त्रादिक द्वारा पूजा करते हुए निरन्तर विचरण करते हैं।

हे पूज्य ! प्रतिमा-पूजन का उद्देश्य क्या?

'हे गौतम! जिनप्रतिमा को जो पूजता है वह सम्यग्दृष्टि, जो नहीं पूजता वह मिथ्यादृष्टि जानना। मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नहीं होता, चारित्र नहीं होता, मोक्ष नहीं होता; सम्यग्दृष्टि को ज्ञान, चारित्र तथा मोक्ष होता है। इस कारण हे गौतम! सम्यग्दृष्टि वाले को जिनमन्दिर में जिनप्रतिमा की चन्दन, धूप आदि द्वारा पूजा करनी चाहिए।

श्री नन्दीसूत्र में इस महाकल्पसूत्र का उल्लेख किया हुआ होने से मानने लायक है फिर भी नहीं माने तो उसे नन्दीसूत्र की आज्ञाभंग का दोष लगता है।

(3)

श्री भगवती सूत्र में तुंगीया नगरी के श्रावकों के अधिकार में कहा है कि -

"ण्हाया कय बलिकम्मा।"

अर्थात् - **"स्नान करके देवपूजा की"**

(4)

श्री उववाई सूत्र में चम्पानगर के वर्णन में कहा है कि -

'बहुलाइं अरिहंत चेइआइं'

अर्थात् - **'अरिहन्त के बहुत से जिनमन्दिर हैं'** तथा शेष नगरों में जिनमन्दिर सम्बन्धी चम्पानगर का निर्देश है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में चंपानगर का निर्देश है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में चंपानगर के साथ-साथ दूसरे शहरों में भी गली-गली में मन्दिर थे।

(5)

तथा श्री आवश्यक के मूल पाठ में कहा है कि -

तत्तो य पुरिमताल वग्गुर ईसाण अच्चए पडिमं ।

मल्लि जिणायणपडिमा उन्नाए वंसि बहुगोठी ।।1।।

भावार्थ - पुरिमताल नगर के रहने वाले वग्गुर नाम के श्रावक ने प्रतिमा-पूजन के लिये श्री मल्लिनाथ स्वामी का मन्दिर बनवाया।

(6)

श्री भगवती सूत्र में जंघाचारण और विद्याचारण मुनियों द्वारा श्री जिनप्रतिमा को

वंदन करने का अधिकार बीसवें शतक के नवें उद्देश्य में कहा है -

"नंदीसरदीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इहमागच्छइ इहमागच्छइत्ता, इह चेइआइं वंदइ।।"

भावार्थ - (जंघाचारण व विद्याचारण मुनि) श्री नन्दीश्वर द्वीप में समवसरण करते हैं। उसके बाद वहाँ के शाश्वत चैत्यों (जिनमन्दिरों) की वन्दना करते हैं। वन्दना करके यहाँ भरतक्षेत्र में आते है और आकर यहाँ के चैत्यों (अशाश्वत प्रतिमाओं) की वन्दना करते हैं।

(7)

श्री भगवतीसूत्र में अमरेन्द्र के अधिकार में तीन शरण कहे हैं। वे नीचे माफिक हैं -

अरिहंते या अरिहंतचेइयाणि या भावीअप्पणो अणगारस्स

भावार्थ - (1) श्री अरिहंत देव (2) श्री अरिहंत देव के चैत्य (प्रतिमा) और (3) भावित है आत्मा जिनकी ऐसे साधु, इन तीनों की शरण जानना।

(8)

श्री आचारांग के प्रथम उपांग श्री उववाई सूत्रानुसार अम्बड़ श्रावक तथा उसके सात सौ शिष्यों ने अन्य देव गुरु की वन्दना का निषेध कर श्री जिनप्रतिमा तथा शुद्ध गुरु को नमस्कार करने का नियम लिया है। वह सूत्र-पाठ निम्नांकित है -

"अंबडस्स परिवायगस्स नो कप्पइ अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थिय देवयाइं वा अन्नउत्थिअपरिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा, नन्नत्थ अरिहंते वा अरिहंत चेइआइं वा"

अन्य तीर्थी के प्रति अथवा अन्य तीर्थों के देवों के प्रति अथवा अन्य तीर्थियों ने ग्रहण किये हों ऐसे अरिहन्त के चैत्य (प्रतिमा) के प्रति वन्दना, स्तवना तथा नमस्कार करना अम्बड़ संन्यासी के लिए वर्जित है परन्तु अरिहन्त अथवा अरिहन्त की प्रतिमा को नमस्कार करना वर्जित नहीं है।

(9)

छठे अंग श्री ज्ञातासूत्र में द्रौपदी श्राविका के सत्रह भेदों की द्रव्य भाव पूजा में "नमोत्थुणं अरिहंताणं" कहने का पाठ आता है -

"तए णं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, मज्जणघरं अणुप्पविसइ, ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगल-पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं परिहिया मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, जेणेव

जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुप्पविसइ अणुपविसइत्ता आलोए जिणपडिमाणं, पणामं करेइ, लोमहत्थयं परामुसइ एवं जहा सुरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ तहेव भाणिअव्वं जाव धुवं डहइ, धुवं डहइत्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेइता दाहिणजाणुं धरणितलंसि निहट्ट, तिखुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ निवेसेइत्ता ईसिरपच्चुणमइ २ करयल जाव कट्टु एवं वयासीणनमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जावसंपत्ताणं वंदइ णमंसइ जिणघराओ पडिणिक्खमइ।''

इसका भावार्थ इस प्रकार है :- इसके बाद वह द्रौपदी नाम की राजकन्या स्नान गृह के स्थान पर आती है और आकर मज्जनघर में प्रवेश करती है। प्रवेश कर पहले स्नान करती है। फिर बली कर्म अर्थात् घरमन्दिर की पूजा करके मन की शुद्धि के लिए कौतुक मंगल करने वाली वह, शुद्धि दोषरहित पूजन योग्य, बड़े जिनमन्दिर में जाने योग्य प्रधानवस्त्र पहनकर मज्जन घर में से निकलती है और निकलकर जहाँ जिनमन्दिर है उस स्थान पर आती है। आकर जिनघर में प्रवेश करती है तथा तत्पश्चात् मोरपंख द्वारा प्रमार्जन करती है। बाकी जैसे सूर्याभदेव ने प्रतिमा-पूजन की, उसी विधि से सत्रह प्रकार से पूजा करती है, धूप करती है। धूप करके बाँया घूटना ऊपर रखती है व दाहिना घुटना जमीन पर स्थापित करती है। तीन वार पृथ्वी पर मस्तक झुकाती है तथा फिर थोड़ी नीचे झुककर, हाथ जोड़कर, दस नाखून शामिल कर, मस्तक पर अंजलि कर ऐसा कहती है - 'अरिहन्त भगवान को नमस्कार हो' जब तक सिद्धगति को प्राप्त हुए तब तक अर्थात सम्पूर्ण शक्रस्तव बोलती है। वन्दन-नमस्कार करने के बाद मन्दिर में से बाहर निकलती है।

(मज्जन घर में द्रौपदी ने घर-मन्दिर की पूजा की है। उसके बाद अच्छे वस्त्र पहन कर वाहर मन्दिर में गई है। इसी प्रकार अब भी श्रावक करते है।)

(10)

श्री उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक द्वारा जिनप्रतिमा के वन्दन का पाठ है। वह निम्नलिखित है -

''नो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा, अन्नउत्थियदेवयाणि वा, अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि अरिहंतचेइयाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा''

भावार्थ - हे भगवन्! मेरे आज से लेकर अन्यतीर्थी (चरकादि), अन्यतीर्थी के देव (हरि-हरादि) तथा अन्य तीर्थियों के द्वारा ग्रहण किये हुए अरिहन्त के चैत्य (जिन प्रतिमा) आदि को वन्दन-नमस्कार करना वर्जनीय है।

अन्य देव तथा गुरु का निषेध होने पर जैनधर्म के देव-गुरु स्वयमेव वन्दनीय हो जाते हैं। फिर भी कोई कुतर्क करे तो उसे पूछे कि ''आनन्द ने अन्य देवों की, चारों निक्षेपों से वन्दना का त्याग किया अथवा भाव निक्षेप से?'' अगर कहोगे कि 'अन्य देवों के चारों निक्षेपों का निषेध किया है' तब तो स्वतः सिद्ध हुआ कि अरिहन्त देव के चारों निक्षेप उसे वन्दनीय हैं। यदि अन्य देवों के भावनिक्षेप का निषेध करने का कहोगे तो उन देवों के शेष तीन निक्षेप अर्थात् अन्य देव की मूर्ति, नाम आदि आनन्द को वन्दनीय होंगे और इस तरह करने से व्रतधारी श्रावक को दोष लगेगा ही। अन्य देव हरिहरादि कोई आनन्द के समय में साक्षात् मौजुद नहीं थे। उनकी मूर्तियाँ ही थीं, तो बताओ कि उसने किसका निषेध किया? यदि कहोगे कि 'अन्य देवों की मूर्तियों का' तो फिर अरिहन्त की मूर्ति स्वतः सिद्ध हुई। जैसे किसी के रात्रिभोजन का त्याग करने पर उसे दिन में खाने की छूट अपने आप हो जाती है।

इस पाठ में ''चैत्य'' शब्द का अर्थ ''साधु'' करके कितने ही लोग उलटा अर्थ लगाते हैं। उनसे पूछे कि - ''साधु को अन्यतीर्थी किस तरह ग्रहण करे? यदि जैन साधु को अन्य दर्शनियों ने ग्रहण किया हो अर्थात् गुरु माना हो और वेष भी वदल दिया हो तो वह साधु अन्य दर्शनी बन गया। फिर वह किसी भी प्रकार से जैन साधु नहीं गिना जा सकता। जैसे शुकदेव संन्यासी ने थावच्चा पुत्र के पास दीक्षा ली उससे वह जैन साधु कहलाये पर जैन परिगृहीत संन्यासी नहीं कहलाये। वैसे ही साधु भी अन्यतीर्थी परिगृहीत नहीं कहलाते। अतः चैत्य शब्द का अर्थ साधु करना सर्वथा गलत है।

तर्क - चैत्य शब्द का अर्थ यदि प्रतिमा करें तो उस पाठ में आनन्द ने कहा है कि - 'मैं अन्य तीर्थी को, अन्य देव को तथा अन्य तीर्थी के द्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा को वन्दन स्तवना नहीं करुंगा व दान नहीं दूंगा। ऐसी दशा में प्रतिमा के साथ बोलने का तथा दान देने का कैसे सम्भव है?'

समाधान - सूत्र का गम्भीर अर्थ गुरु विना समझना कठिन है। सूत्र की शैली ऐसी है कि जो शब्द जिस-जिस के साथ सम्भव हों उनको उनके साथ जोड़कर उनका अर्थ करना चाहिए, नहीं तो अनर्थ हो जाय। इससे अन्यदर्शी गुरु के लिए बोलने तथा दान देने का निषेध समझना। यदि तीनों पाठों की अपेक्षा साथ में लोगे तो तुम्हारे किये हुए अर्थ के अनुसार आनन्द का कथन नहीं मिलेगा क्योंकि उस समय हरिहरादि कोई देव साक्षात् रूप से विद्यमान नहीं थे। उनकी मूर्तियाँ थीं। उनके साथ बोलने का तथा दान देने का अर्थ तुम्हारी मान्यतानुसार कैसे बैठेगा?

(11)

सिद्धार्थ राजा के द्वारा की गई द्रव्यपूजा का वर्णन **श्री कल्पसूत्र** में इस प्रकार है-

"तए णं सिद्धथे राया दसाहियाए ठिइवडियाए वट्टमाणीयए सइए अ साहस्सिए अ, सयसाहस्सिए अ, जाए अ, लंभे पडिच्छमाणे अ पडिच्छावयमाणे अ एवं वा विहरइ"

भावार्थ - उसके बाद सिद्धार्थ राजा, दस दिन तक महोत्सव के रूप में कुल मर्यादा का पालन करते हैं जिसमें सौ, हजार अथवा लाख द्रव्य लगे, ऐसे याग - अरिहन्त भगवन्त की प्रतिमा की पूजा करते हैं, औरों से करवाते हैं तथा बधाई को स्वयं ग्रहण करते हैं तथा सेवकों द्वारा ग्रहण करवाते हुए विचरण करते हैं।

शंका - सिद्धार्थ राजा ने यज्ञ किया था, पर पूजा नहीं की थी?

समाधान - सिद्धार्थ राजा श्री पार्श्वनाथ स्वामी के बारह व्रतधारी श्रावक थे, ऐसा श्री **आचारांग सूत्र** में कहा है। तो विचार करें कि घोड़े, बकरे आदि पशुवध का यज्ञ वे कभी करेंगे या करायेंगे? **लंभ** अर्थात् बधाई। व्याकरण के आधार पर यज् शब्द **देवं पूजयामीति वचनात्,** देवपूजावाची है। श्रावक तो जिनयज्ञ-पूजा करता है। परम सम्यक्त्वधारी श्रावक सिद्धार्थ राजा श्री जिनमन्दिर में द्रव्यपूजा करने से बारहवें देवलोक (किसी मत से चौथे देवलोक) में जाने का सूत्र में कहा है। यदि हिंसक यज्ञ करने वाले होते तो निश्चय ही नरक में जाने चाहिए, परन्तु सिद्धार्थ राजा के मोक्षगामी जीव होने का, श्री वीर परमात्मा ने फरमाया है। चौबीस तीर्थंकरों के मातापिता निश्चय से मोक्षगामी जीव होते हैं।

(12)

श्री **व्यवहार सूत्र** में कहा है कि साधु जिनप्रतिमा के सम्मुख आलोचना लेता है।

श्री **महानिशीथ सूत्र** के चौथे अध्ययन में श्री जिनमन्दिर बनवाने वाले को बारहवें देवलोक अर्थात् दान, शील, तप तथा भावना की आराधना से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल प्राप्त होता है, ऐसा फरमाया है।

काउंपि जिणाययणेहिं, मंडियं सव्वमेइणीवट्टं।
दाणाइचउक्केण सड्ढो गच्छेज्ज अच्चुयं जाव न परं ॥१॥

भावार्थ - पृथ्वीतल को जिनमन्दिरों से सुसज्जित करके तथा दानादि चारों (दान, शील, तप और भाव) करके श्रावक अच्युत-बारहवें देवलोक तक जाता है, उससे ऊपर नहीं।

(14)

पुनः उसी सूत्र में अष्ट प्रकार की पूजा आदि का विस्तार से वर्णन है। उससे जानने के इच्छुक लोगों को उसे देखना चाहिए।

(15)

श्री आवश्यक सूत्र में भरत चक्रवर्ती के श्री जिनप्राग   त्राने का उल्लेख है।

थूभसयभाउगाणं चउवीसं चेव जिणहरे कासी

सव्वजिणाणं पडिमा, वण्णपमाणेहिं निअएहिं

अर्थ - एक सौ भाई के सौ स्तम्भ तथा चौबीस तीर्थंकर महाराज के जिनमन्दिर सारे तीर्थंकरों की उनके वर्ण तथा शरीर के प्रमाणवाली प्रतिमाएँ श्री अष्टापद पर्वत पर भरत राजा ने स्थापित की।

(16)

श्री आवश्यक सूत्र में कहा है कि -

''अंतेउरे चेइयहरं कारियं पभावती ण्हाता, तिसंज्झं अच्चेइ, अन्नया देवी णच्चेइ, राया वीणं वायेइ''

भावार्थ - प्रभावती रानी ने अन्त:पुर में चैत्यघर (जिनभवन) बनवाया। उस मन्दिर में रानी स्नान करके प्रात:काल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल त्रिकाल पूजन करती हैं। किसी समय रानी नृत्य करती है तथा राजा स्वयं वीणा वादन करता है।

(17)

श्री शालिभद्र चरित्र जिसे प्राय: तमाम जैन मानते है, में कहा है कि -

शालिभद्र के घर में उनके पिता ने जिनमन्दिर बनवाया था तथा रत्नों की प्रतिमाएँ बनवाई थी। वह मन्दिर अनेक द्वारों सहित, देवविमान जैसा बनाया गया था।

(18-19-20)

श्री भगवती, श्री रायपसेणी और श्री ज्ञातासूत्रादि अनेक सूत्रों में श्रावकों के वर्णन में **''न्हाया कयबलिकम्मा।''** अर्थात् ''स्नान करके देवपूजा करना'' ऐसे उल्लेख हैं। **श्री भगवतीजी** में तुंगीया नगरी के श्रावक के अधिकर में कहा गया है कि - ''श्रावक यक्ष, नाग आदि अन्य देवों को नहीं पूजे'' तथा **श्री सूयगडांग सूत्र** में भी कहा है कि नागभूतयक्षादि तेरह प्रकार के अन्य देवों की प्रतिमा को पूजने से मिथ्यात्वपना प्राप्त होता है तथा बोधिबीज का नाश होता है। इससे सिद्ध होता है कि श्री अरिहन्तदेव की प्रतिमा को पूजने से समकित की प्राप्ति होती है तथा बोधिबीज की रक्षा होती है। इस कारण **''कयबलिकम्मा''** पाठ से श्रावकों को श्री जिनप्रतिमा की पूजा करनी चाहिए।

कितने ही **''न्हाया कयबलिकम्मा''** का ''स्नान करके फिर पानी के कुल्ले

किये'' ऐसे शास्त्र के बिल्कुल विपरीत अर्थ करते है, जो असत्य है।

भावनिक्षेप से साक्षात् तीर्थंकर को वन्दन-पूजन करने का जो फल है तथा सम्यक्त्व और ज्ञान सहित चारित्र पालने का जो फल सूत्र में बताया है, वही फल श्री जिनप्रतिमा के वन्दन पूजन का कहा है। यावत् मोक्षप्राप्ति तक का बतलाया है।

(21)

श्री दशाश्रुतस्कन्ध के दसवें अध्ययन में कहा है कि श्री महावीर स्वामी राजगृही नगरी में पधारे तब वन्दन करने जाने के लिए चेलणा रानी श्रेणिक राजा के पास आई और कहने लगी - (वह पाठ निम्नांकित है) -

''चिल्लणादेवी एवं वयासी तं महाफलं देवाणुप्पिये! भगवं महावीरं वंदामो, णमंसामो सम्माणेमो, कल्लाणं मंगलं चेइयं पज्जुवासेमो तेणं इह भवे य परभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ।''

भावार्थ - निश्चित! हे चिल्लणादेवी! उसका महाफल होता है। किसका? तो कहते हैं कि हे देवानुप्रिय! श्रमम भगवान श्री महावीर स्वामी को वन्दन करने से, नमस्कार करने से, सत्कार करने से, सम्मान करने से कल्याणकारी मंगलकारी देव सम्बन्धी चैत्य (जिनप्रतिमा) की तरह पर्युपासना करने से इस भव और परभव में हित के लिए, सुख के लिए, क्षेम के लिए, नि:श्रेयस मोक्ष के लिए होता है तथा भवोभव में साथ में आने वाला होता है।

(22)

वैसा ही पाठ **'उववाई सूत्र'** में चम्पानगरी के कोणिक राजा के अधिकार में आता है। साक्षात् भगवान को वन्दनार्थ जाते समय के वर्णन का पाठ अनेक स्थलों में आता है।

(23)

श्री **रायपसेणी सूत्र** में सूर्याभदेव के अधिकार में कहा है - उसका पाठ निम्नलिखित है -

'तएणं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गयस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झथिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुपज्जित्था-किं मे पूव्विं करणिज्जं? किं मे पच्छा करणिज्जं? किं मे पूव्विं सेयं? किं मे पच्छा सेयं? किं मे पूव्विंपि पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ?'

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणिय परिसोववण्णगा देवा सूरियाभस्स देवस्स इमेयारूवं अज्झत्थियं जाव संकप्पं समुप्पण्णं समभिजाणित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेन्ति, वद्धावित्ता सिद्धायथणे जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं अट्ठसयं सण्णिक्खित्तं चिट्ठइ। सभाएणं सुहम्माए णं माणवए चेइयखंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु वहूओ जिणसकहाओ सण्णिक्खित्ताओ चिट्ठन्ति। ताओ णं देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं च वहूणं वेमाणियाणं देवाणं य देवीणं य अच्चणिज्जाओ। वंदणिज्जाओ णमंणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ। तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं करणिज्जं, एयं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा करणिज्जं, एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं सेयं एयं ण देवाणुप्पियाणं पच्छा सेयं, एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ।

भावार्थ - तब वह सूर्याभदेव पाँच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्ति भाव को प्राप्त हुआ। उस सूर्याभदेव के मन में इस प्रकार का विचार पैदा हुआ कि मुझे पहले क्या करना चाहिए? बाद में क्या करना चाहिए? मेरे लिए प्रथम कल्याणकारी क्या है? बाद में कल्याणकारी क्या है? आत्मा के लिए हितकारी, सुखकारी, क्षमकारी, मोक्षकारी तथा परम्परा से शुभानुबन्धी क्या है?

सूर्याभदेव के उपर्युक्त विचारों को जानकर सूर्याभदेव की सामानिक सभा के देवता आकर सूर्याभदेव को हाथ जोड़कर, मस्तक में आवर्त कर, स्व पक्ष का जय, पर पक्ष का जय-विजय आदि शब्दों से वर्धापना करते हैं। तत्पश्चात् वे कहते हैं कि हे देवानुप्रिय! आपके सूर्याभ विमान में सिद्धायतन (जिनमन्दिर) है। उस मन्दिर में १०८ जिनप्रतिमाएँ हैं। उन प्रतिमाओं की अवगाहना जिनेश्वर समान है तथा सुधर्मा सभा में माणवक नामक चैत्य स्तम्भ है। उस स्तम्भ में वज्रमय पेटियाँ हैं। उनमें अनेक जिनेश्वरों की अस्थियाँ आदि स्थापित की हुई हैं।

हे देवानुप्रिय! वे जिनप्रतिमाएँ और दाढ़ाएँ सम्यग्दृष्टि के लिए अर्चन करने योग्य, वन्दन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य, पूजन और सम्मान करने योग्य हैं तथा (वे प्रतिमाएँ) कल्याणकारी-मंगलकारी हैं अतः आपके लिए सर्वप्रथम यही कर्त्तव्य है और बाद में करने योग्य भी यही है। इसी में पहले और बाद में श्रेय है। आपको पहले और बाद में भी हितकारी, सुखकारी, क्षेमकारी, मोक्षकारी व परम्परा से शुभानुबन्धी होगा।

(24)

सम्यग्दृष्टि सूर्याभदेव ने जिनप्रतिमा को नमस्कार कर, फल चढ़ाकर, अष्ट मंगल का आलेखन कर, अनेक प्रकार से धूपादि कर स्तुति में शक्रस्तव 'नमोत्थुणं' कहकर सत्रह प्रकार से पूजा की है। इसका विस्तृत वर्णन **श्री रायपसेणी** में है जो अतिविस्तृत होने से यहाँ नहीं लिखा है।

श्री महावीर प्रभु ने पूजा का फल बताते हुए कहा है कि-

"हियाए सुहाए खेमाए निस्सेयस्साए अणुगामित्ताए भविस्सइ।"

अर्थ - श्री जिनप्रतिमा की पूजा पूजक के हित के लिए, सुख के लिए, मोक्ष के लिए तथा जन्मान्तर में भी साथ में आने वाली है।

श्री जीवाभिगम सूत्र में विजयपोली तथा अन्य अनेक सम्यग्दृष्टि देवों के द्वारा की गई सत्रह प्रकार की पूजा का वर्णन है और उसका फल यावत् मोक्ष तक कहा है।

(26)

श्री ज्ञातासूत्र में तीर्थंकर गोत्र-बंध के लिए बीस स्थानक कहे हैं। उनमें "सिद्धपद की आराधना करना" ऐसा फरमाया है। उन अरूपी सिद्ध भगवान का ध्यान-आराधन उनकी मूर्ति बिना हो ही नहीं सकता।

(27)

श्री व्यवहार सूत्र में कहा है कि -

"सिद्धवेयावच्चेणं महानिज्जरा महापज्जवसाणं चेयति।"

सिद्ध भगवान की वैयावच्च करने से महानिर्जरा होती है अर्थात् मोक्ष मिलता है।

तर्क - सिद्ध भगवान की वैयावच्च तो नाम-स्मरण से ही हो जाती है तो फिर मूर्ति का क्या प्रयोजन?

उत्तर - नामस्मरण को तो गुणगान, कीर्तन, भजन, स्वाध्याय आदि कहते हैं, वैयावच्च नहीं। यदि वैयावच्च का अर्थ ऐसा करोगे तो **श्री प्रश्नव्याकरण** में बालक की, वृद्ध की, रोगी की तथा कुलगणादि की दस प्रकार से साधु को वैयावच्च करनी चाहिये तो क्या केवल नामस्मरण से वैयावच्च हो जायेगी? अथवा आहार-पानी, औषधि, अंगमर्दन, शय्या, संथारा आदि करने से होगी? नाम आदि याद करने से वैयावच्च नहीं गिनी जाती, पर पूर्वोक्त प्रकार से सेवा-भक्ति करने से ही गिनी जाएगी। सिद्ध भगवान की वैयावच्च तो उनका मन्दिर बनवाकर, उसमें उनकी मूर्ति स्थापित कर, वस्त्राभूषण, गंध, पुष्प, धूप-दीप द्वारा अष्ट प्रकारी व सत्रह प्रकारी आदि पूजा करना, उसे ही कहा जाएगा।

(28)

श्री प्रश्नव्याकरण में आदेश है कि निर्जरा के अर्थी साधु को **'चेइयट्ठे'** अर्थात् जिनप्रतिमा की हीलना, उसका अवर्णवाद तथा उसकी दूसरी भी आशातनाओं का उपदेश द्वारा निवारण करना चाहिए।

(29)

श्री आवश्यक मूल सूत्र पाठ में -

"अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सगं"

ऐसा कहकर, साधु तथा श्रावक, सर्वलोक में रही हुई श्री अरिहन्त की प्रतिमा का काउस्सग्ग, बोधिबीज के लाभ के लिए करे - ऐसा फरमाया है।

(30)

"थयथुइ मंगलं"

स्थापना की स्तुति करने से जीव सुलभबोधि होता है-ऐसा **श्री उत्तराध्ययन सूत्र** में लिखा है।

(31-32)

श्री अनुयोगद्वार तथा **श्री ठाणांग सूत्र** में चारों निक्षेप और चार प्रकार के तथा दस प्रकार के सत्यों का वर्णन किया हुआ है जिसमें स्थापना निक्षेप तथा स्थापना सत्य भी आता है। उससे भी स्थापना अर्थात् मूर्ति को मानने की बात सिद्ध हो जाती है।

दुराग्रह रहित बुद्धिमान् लोगों के लिए केवल संकेत ही काफी है। सूत्र के सैकड़ों पाठों में से केवल इतने ही पाठ देना उचित समझते हैं। और भी कई प्रमाण प्रसंग आने पर बताये जायेंगे। उस पर से विद्वान् पाठकगण वास्तविक निर्णय कर सकेंगे। अगर जैनों में परम्परा से मूर्तिपूजा न होती तो उसका उल्लेख मूलसूत्रों में कहाँ से आया? जगत् में प्रत्येक नामावली वस्तु अपने गुणविशेष से जुड़ी हुई है, वैसे ही 'मूर्ति' नामधारी वस्तु भी किसी प्रकार निरर्थक नहीं है। मूर्ति शब्द भी उसमें रही हुई वस्तु का वास्तविक बोध कराती है। वह स्थापना सिवाय अन्य किसी भी विषय के कारण से सिद्ध नहीं होती.

प्रश्न 41 - प्रतिमा को जिनराज के तुल्य मानना और उसे आभूषण आदि चढाना, पुष्प, धूप, स्नान, विलेपनादि करना, क्या यह उचित है? क्या यह क्रिया त्यागी को भोगी बनाने जैसी नहीं है?

उत्तर - त्यागी और भोगी का अन्तर जो जानता है, वह ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता।

अर्हन्त शब्द का व्याकरण की दृष्टि से अर्थ निम्नानुसार है -

अरिहंति वंदणनमंसणाइ, अरिहंति पूअसक्कारं।
सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति।।

अर्थ - जो वन्दन नमस्कार आदि के योग्य है, जो (इन्द्र आदि देवों के किये हुए आठ प्रातिहार्य रूप) पूजा एवं सत्कार के योग्य है और जो सिद्धि गति की प्राप्ति के योग्य है, उसे अरहन्त कहा जाता है। इस प्रकार अरहन्त नाम ही द्रव्यपूजा का सूचक है।

जिनके राग-द्वेष जड़मूल से उखड़ गये हैं, वे दूसरे के द्वारा की हुई पूजा से भोगी अथवा रागी कैसे बन सकते हैं? राग की उत्पत्ति का कारण मोह-ममता है औव वह सर्वथा नष्ट हो चुकी है, तो वे इसमें किस प्रकार लिप्त हो सकते हैं? यदि पूजा से भोगी बन जायेंगे तो क्या निन्दा से निन्दनीय बन जायेंगे? नहीं। पूजा अथवा निन्दा से उनकी महिमा बढ़ती-घटती नहीं। पूजा तथा निन्दा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। पूजक और निन्दक पुरुष को ही वे क्रियाएँ शुभाशुभ फल देने वाली हैं। भगवान को केवल-ज्ञान होने के पश्चात् आठ प्रातिहार्य होने का **श्री समवायांग सूत्र** में विस्तृत वर्णन है -

(1) **अशोक वृक्ष** भगवान को छाया करता है।

(2) देवता जल-थल में उत्पन्न पंचरंगी **पुष्पों** को घुटनों तक बरसाते हैं।

(3) आकाश में **देवदुंदुभि** बजती है।

(4) दोनों ओर **चँवर** ढुलते हैं।

(5) प्रभु के बैठने के लिए रत्नजड़ित **स्वर्ण-सिंहासन** हमेंशा साथ रहता है।

(6) रत्नमय तेज के अंबाररूप **भामण्डल** भगवान के पीछे रहता है।

(7) **दिव्यध्वनि रूप** प्रातिहार्य द्वारा मनोहर वीणावादन होता है।

(8) एक ऊपर दूसरा, ऐसे **तीन छत्र** प्रभु के सिर पर रहते हैं।

और लाखों, करोड़ों देव जय-जयकार की ध्वनि से स्तुति करते हुए साथ रहते हैं। देव समवसरण बनाते हैं, जिसमें चांदी का गढ़ और सोने के कंगूरे, सोने का गढ़ और रत्न के कंगूरे, रत्न का गढ़ और मणिमय कंगूरे होते हैं और बीस हजार सीढ़ियाँ एक तरफ होती हैं; भगवान रत्नमय सिंहासन पर विराजमान होकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके देशना देते हैं। शेष तीन दिशाओं में देवता भगवान की तीन मूर्तियाँ स्थापित करते हैं। इन दिशाओं से आने वाले लोग तथा तिर्यंच उनको साक्षात् प्रभु जानकर नमस्कार करते हैं।

प्रभु एक अपने मुख से तथा तीन दिशाओं में मूर्ति के मुख से, इस प्रकार चार मुखों से अतिशय द्वारा देशना देते हैं। चलते समय भगवान स्वर्णकमल पर पैर रखकर ग्रामानुग्राम विहार करते हैं, सुगन्धित पवन, सुगन्धित जल का छिड़काव और पुण्यवान् पुरुषों के लायक अनेक दिव्य पदार्थ प्रकट होते हैं। इतने पदार्थों का सेवन करने वाले तीर्थंकरों का त्यागीपन

गया नहीं, कर्म लगे नहीं, भोगी बने नहीं, फिर मुक्त परमेश्वर की मूर्ति के सम्मुख पूजक की द्रव्यपूजा से उन पर भोगी बनने का आरोप अथवा आक्षेप करना मात्र अज्ञानता के सिवाय और क्या है?

भोगीपन बाह्य पदार्थों से नहीं होता। वह तो आन्तरिक मोह के परिणाम के आधीन है। ऐसे मोह को तो भगवान ने पहले से ही देशनिकाला दे दिया है। अलिप्त भगवान को जैसे पूजा से राग नहीं, वैसे निन्दा से द्वेष भी नहीं। जो जिस तरह करता है वह उसी प्रकार का फल अपनी आत्मा के लिए प्राप्त करता है। जैसे सूर्य की ओर कोई थूके अथवा स्वर्णमोहर फेंके तो वह फेंकने वाले की तरफ लौट कर आती है। सूर्य को उससे कुछ लगता नहीं। इसी प्रकार परमात्मा की पूजा अथवा निन्दा से भी निन्दक को ही लाभ-हानि होती है।

श्री तीर्थंकरदेव जन्म से लेकर निर्वाण तक पूजनीय और वन्दनीय हैं क्योंकि निन्दनीय वस्तु के चारों निक्षेप जैसे निन्दनीय होते हैं, वैसे ही पूजनीय वस्तु के चारों निक्षेप पूजनीय होते हैं।

द्रव्यनिक्षेप से पूर्व जन्मावस्था का आरोपण कर जैसे इन्द्रादि देवों ने स्नान करवाया, वैसे प्रभु को जल से स्नान कराके ऐसी भावना धारण करें कि - "हे प्रभो! जैसे जल-प्रक्षालन से शरीर का मैल दूर होता है और बाहरी ताप का नाश होता है वैसे ही भाव रूप पवित्र जल से मेरी आत्मा के साथ रहने वाले कर्ममैल का नाश हो।" और विषय-कषाय के ताप का उपशम हो तथा यौवनावस्था या राज्यावस्था का आरोपण कर वस्त्र, आभूषण आदि पहनाने में आते हैं उस समय सोचना कि 'अहो प्रभो! आपको धन्य है कि इस प्रकार वस्त्राभूषण, राजपाट को छोड़कर, संयम ग्रहण कर, आपने अनेक भव्य जीवों का उद्धार किया। मैं भी अपनी अल्पबुद्धि और परिग्रह को छोड़कर ऐसा कब बनूंगा?"

इस प्रकार केसर, चन्दन, नैवेद्यादि चढ़ाकर, सभी स्थानों पर अलग-अलग भावना भावित करने में आती है, तथा केवली अवस्था का आरोपण कर नमस्कार-स्तुति आदि की जाती है। श्री वीतरागदेव गृहस्थावस्था में वस्त्र तथा आभूषण के भोगी थे, परन्तु उस अवस्था में भी मन से तो त्यागी ही थे। परन्तु तीर्थंकर पदवी का निकाचित पुण्य उपार्जन करके आए होने से प्रातिहार्यादि बाह्य ऋद्धि भी भोग करना पड़ता है। परन्तु उस समय भी राग-द्वेष रहित शुद्ध भाव में होने से उनको नये कर्मों का बन्धन नहीं होता है। राग-द्वेष की चौकड़ी मिलती है, तभी कर्मबंध होता है।

वीतराग प्रभु का खान-पान, बैठना-उठना आदि सब मोहममत्व रहित होने से बंध के नहीं, परन्तु निर्जरा के हेतु हैं जबकि अज्ञानी लोग उन सभी कार्यों में मोहित हो जाने से कर्मबंध करते हैं।

प्रभु तो वीतराग हैं, निरागी हैं, तो फिर उनकी वस्त्रालंकार द्वारा पूजा करने से उनके

विरागीपन में लेशमात्र भी न्यूनता कैसे आ सकती है? भगवान की तीन अवस्थाओं में प्रथम पिण्डस्थ अवस्था के तीन भेद हैं -

(1) **जन्मावस्था** - नहलाना, प्रक्षालन करना, अंग पोंछना आदि करना जन्मावस्था की भावना है।

(2) **राज्यावस्था** - केसर, चन्दन, फूलमाला, आभूषण, अंगरचना आदि करना, राज्यावस्था की भावना है।

(3) **श्रमणावस्था** - भगवान का केश रहित मस्तक, कायोत्सर्गासन आदि का चिन्तन करना श्रमणावस्था की भावना है।

दूसरी पदस्थ अवस्था - पद कहने से श्री तीर्थंकर पद। इसमें केवलज्ञान से लेकर निर्वाण पर्यन्त की केवली अवस्था का चिन्तन करने का है। इस अवस्था में प्रभु आठ प्रातिहार्य सहित होते हैं तथा रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठते हैं। सोने का लगातार स्पर्श पाकर भी उनका वीतराग भाव चला नहीं जाता और यदि चला जाता होता तो गणधर महाराज तथा इन्द्रादिदेव किसलिए वीतराग कहकर उनकी स्तुति करते? वीतरागपन का भाव यह कोई बाह्य पदार्थ नहीं, परन्तु आन्तरिक वस्तु है।

तीसरी रूपातीत अवस्था - यह रूप रहित सिद्धत्व की अवस्था है। प्रभु को पर्यंकासन पर काउसग्ग ध्यान में शान्त मुद्रा में बैठे हुए देखकर रूपातीत अवस्था की भावना करने की है। ऐसी दशा में प्रभु को देखकर इस अवस्था का चिन्तन करने में आत्मा को अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है।

जो प्रातिहार्यादि पूजा को नहीं मानते, उन्हें तो केवल निर्वाण अवस्था को ही मानना चाहिए, पर ऐसा तो तभी हो सकता है कि जब भगवान की एकान्त निर्वाण अवस्था ही पूजनीय हो तथा अन्य अवस्थाएँ अपूजनीय हों। प्रभु की समस्त अवस्थाएँ पूजनीय हैं, इसलिये उनको पूजने की रीति भी उपर्युक्त तीन प्रकार से शास्त्रकारों ने बतलाई है।

यहाँ एक बात यह भी समझने की है कि जिन साधुओं को लोग वन्दन करते हैं, पूजा करते हैं वे त्यागी हैं अथवा भोगी? यदि त्यागी हैं तो वे आहार पानी आदि का उपयोग क्यों करते है? वन्दन-नमस्कार क्यों स्वीकार करते हैं? वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने से क्या वे भोगी, अभिलाषी या तृष्णावान् सिद्ध नहीं होते हैं? यदि नहीं तो जिस प्रकार साधु महात्मा राग-रहित होकर पूर्वोक्त वस्तु को उपयोग में लेकर, संयम साधना करते हैं; फिर भी भोगी नहीं बन जाते, उसमें लिप्त नहीं होते, बल्कि सेवक पुरुष यथोचित भक्ति कर आत्मकल्याण साधते हैं, वैसे ही वीतरागदेव की पूजा के लिए भी समझने का है।

प्रश्न 42 - भगवान तो साधु हैं। उनको कच्चे पानी से स्नान करवाने में किस प्रकार धर्म होता है?

उत्तर - ऊपर बताये अनुसार भगवान तो जन्म से पूजनीय होने से जन्मावस्था आरोपित कर स्नान तथा यौवनावस्था आरोपित कर उनको वस्त्राभूषण पहनाये जाते हैं।

जैसे श्रद्धालु श्रावकों को ज्ञात होता है कि कोई पुरुष या स्त्री दीक्षा ग्रहण करने वाली है, तो उसे एक दो महीने तक घर-घर भोजन कराया जाता है। स्नान कराकर, वस्त्राभूषण पहनाकर, वरघोड़े पर चढ़ाकर घुमाया जाता है। यह सब सगाई-सम्बन्ध के निमित्त नहीं, परन्तु केवल भक्ति के निमित्त ही किया जाता है। इसके उपरान्त भी जब वही साधु बन जाता है, तब उनमें से कुछ भी नहीं किया जा सकता। भावनिक्षेप के आश्रित कार्य तथा द्रव्यनिक्षेप के आश्रित कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। भगवान को स्नान आदि कराकर अलंकारों से विभूषित करने का कार्य द्रव्यनिक्षेप की भक्ति के आश्रित है, न कि भावनिक्षेप के आश्रित। मूर्ति की भक्ति चारों निक्षेपों से करने की होती है।

श्री तीर्थंकर महाराजाओं ने तो चारों घाती कर्मों का नाश कर डाला है, कर्मबन्धन के मूल मोह को जलाकर राख कर दिया है। वीतराग होने के कारण नये कर्मों का बन्धन उन्हें नहीं होता, ऐसा **श्री भगवती** तथा **श्री पन्नवणा** आदि सूत्रों में फरमाया है।

जब साधु को चार कषाय, छह लेश्या और आठ कर्म खपाने शेष हैं तो ऐसी दशा में सामान्य साधु और भगवान की पूजा का कल्प एक समान कैसे हो सकता है? भगवान स्वर्णसिंहासन पर बैठते हैं, पर सामान्य साधु यदि सोने का स्पर्श भी करता है, तब भी दोष लगता है क्योंकि साधु के लिए मोह पैदा करने का वह कारण है।

भगवान को पच्चीस क्रियाओं में से एक ईर्यापथिकी (मार्ग पर चलने की) मात्र क्रिया लगती है और उससे भी प्रथम समय में कर्मबन्ध होता है, द्वितीय समय में वह कर्म भोगते हैं तथा तृतीय समय में नाश करते हैं। अतः कहाँ तो केसरी सिंह और कहाँ हिरन? कहाँ चक्रवर्ती राजा और कहाँ भिक्षुक? इस प्रकार श्री वीतराग देव और वेषधारी साधु में महान् अन्तर है और इसीलिए दोनों की पूजा का व्यवहार भी एक समान कैसे हो सकता है?

मूर्ति भगवान के गुणों का स्मरण कराने का एक आलम्बन है, इसलिए कच्चे पानी से स्नान का दोष उसे किस प्रकार लग सकता है? साक्षात् प्रभु की पूजा तथा उनकी मूर्ति की पूजा का कल्प तो अलग-अलग ही रहेगा। जैसे साक्षात् प्रभु को रथ में बिठाकर उनकी भक्ति नहीं की जाती, जबकि प्रभु की मूर्ति को भक्ति के लिए सभी रथ में बिठाते हैं। भाव अरिहन्त एवं स्थापना अरिहन्त की भक्ति करने की प्रणाली में कई प्रकार से अन्तर पड़ता है।

प्रश्न 43 - भगवान तो आधाकर्मी या अव्याहृत आहार काम में नहीं

लेते तो फिर उनकी मूर्ति के सामने बना हुआ, बिकाऊ लाया हुआ अथवा सामने लाया हुआ आहार कैसे रखा जाता है?

उत्तर – आधाकर्मी आहार न लेने सम्बन्धी विचार तो दीक्षा लेने के बाद का है और नैवेद्यादि द्रव्यपूजा तो उसके पूर्व की अवस्था का विषय है, यह समाधान ऊपर हो चुका है। जैसे साधु होने वाले व्यक्ति को घर-घर भोजन कराया जाता है पर साधु होने के बाद नहीं अर्थात् नैवेद्यादि पूजा, द्रव्यनिक्षेप के आश्रित है, भावनिक्षेप के आश्रित नहीं। जैसे इन्द्रदेव तथा अन्य देव भगवान के जन्म-महोत्सव के समय कई उत्तम द्रव्यों से प्रभु की अर्चना करते हैं तथा बाद में भी देवतागण बारम्बार ऐसी भक्ति करते हैं, वैसे ही प्रभु की छद्मावस्था के कारण उपर्युक्त भक्ति का विधान है। अत: उसमें दोषारोपण करना व्यर्थ है।

प्रश्न 44 – छोटी सी मूर्ति के आगे नैवेद्य के ढेर लगा दिए जाते हैं। क्या यह अनुचित नहीं है? क्या मूर्ति को खाने की आवश्यकता रहती है?

उत्तर – यह प्रश्न सर्वथा व्यर्थ है। नैवेद्य, मूर्ति के खाने के लिए नहीं रखा जाता, किन्तु पूजा करने वाला अपनी भक्ति के लिए ऐसा करता है। पूज्य को इससे कोई प्रयोजन नहीं रहता।

मूर्ति खाती नहीं, इसीलिए उसके सामने [illegible] र्थना करने की है कि "हे प्रभो! आप निर्वेदी तथा सदा अनाहारी हो। आपके सामने मैं यह आहार इस भाव से रखता हूँ कि मैं इस आहार तथा नैवेद्य का बिल्कुल त्याग क[illegible] के लिए आपके जैसा अनाहारी पद (मोक्ष) प्राप्त करूँ तथा हे देवाधिदेव! यह आहार अनेक पापारम्भ करके तैयार किया है और यह आहार यदि मैं खाऊंगा तो फिर इसके आस्वादन से मुझमें राग-द्वेष की भावना जाग्रत होगी। जितना आहार मैं आपको अर्पित करूंगा, उतनी आहार सम्बन्धी रागद्वेष की भावना कम होगी, भक्ति का लाभ मिलेगा तथा परम्परा से मुक्तिफल का स्वाद चखने का सौभाग्य भी प्राप्त होगा।

प्रश्न 45 – भगवान् अपरिग्रही हैं। उनके सामने पैसे आदि रखकर उन्हें परिग्रही बनाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – यह कुतर्क भी ऊपर जैसा ही है फिर भी इस पर पुन: विचार करें। पहले तो परिग्रह किसे कहा जाता है? खान, पान, वस्त्र-अलंकार, धन-धान्य आदि आठ स्पर्श वाले पुद्गल हैं, नजरों से जिन्हें देखा जा सकता है, एक-दूसरे को दिये जा सकते हैं। परन्तु अठारह पापस्थानकों के पुद्गल चार स्पर्श वाले हैं, जिनको केवली भगवान के सिवाय अन्य कोई देख नहीं सकता और इससे पाप के पुद्गल एक दूसरे के देने से दिये नहीं जा सकते।

परिग्रह पाँचवाँ पापस्थानक है। मोह, ममत्व, तृष्णा आदि उसके प्रकार हैं। परमात्मा

का मोह-ममता रूप परिग्रह तो पूर्ण रूप से जलकर खाक बन गया है और दूसरे के देने से अब दिया नहीं जा सकता तो फिर अपरिग्रही और मोहरहित भगवान दूसरे के करने से परिग्रही और मोह वाले कैसे बन सकते है

और श्री जिनप्रतिमा के सामने द्रव्य चढ़ाते समय पूजक की भावना कैसी होती है, यह भी समझने योग्य है।

द्रव्य चढ़ाते समय पूजक यह सोचता है कि "हे प्रभो! मैं जो धन अर्जित करता हूँ, उसमें अनेक प्रकार के कर्मबन्ध होते हैं। साथ ही उस धन को सांसारिक कार्यों में खर्च करने से विशेष पापवृद्धि होती है। ऐसी दशा में इस धन में से मेरे भाव के अनुसार जितना धन मैं आपकी भक्ति में खर्च करूंगा, उस मात्रा में पापवृद्धि रुक जाएगी। इतना ही नहीं परन्तु इससे पुण्यानुबन्धी पुण्य का सर्जन होगा। और अन्त में, यह धन मेरा तो है ही नहीं। मेरा तथा इसका स्वभाव भिन्न है। मैं चेतन हूँ, यह जड़ है। अतः इस पर से जितनी मूर्छा मोह उतरे, उतनी मुझे उतारनी चाहिए। इस प्रकार अपने परिग्रह और अपनी मोह-ममता घटाने के लिए प्रभुभक्ति आदि धार्मिक कार्यों में द्रव्य खर्च किया जाता है।

जितनी मात्रा में अच्छे कार्य में द्रव्य खर्च करने की इच्छा होती है, उतनी मात्रा में तृष्णा कम होती है और जितनी मात्रा में धनसंचय की इच्छा होती है, उतनी मात्रा में परिग्रह और लोभवृत्ति की वृद्धि होती है।

मुनिजन भी संयमनिर्वाह के लिए वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पदार्थ ग्रहण करते हैं। काया पुद्गल हैं, उसे भी वे धारण करते हैं। खान-पान भी करते हैं। उनका शिष्य समुदाय भी होता है। ये सभी प्रकार से पुद्गल ही हैं। उन सबको यदि परिग्रह गिनोगे तो साधुओं का पाँचवाँ व्रत सर्वथा नष्ट हुआ समझना पड़ेगा और किसी भी साधु को मोक्ष नहीं हो सकेगा। परन्तु आज तक असंख्य मुनि मोक्ष में पहुँच गये और आगे भी जायेंगे। अतः जैसे साधु पुरुषों के पास पूर्वोक्त वस्तुएँ होते हुए भी, वे उसमें लिप्त तथा ममता वाले नहीं होने से अपरिग्रही ही कहलायेंगे, वैसे ही श्री वीतराग भी अपरिग्रही हैं।

मरुदेवी माता को हाथी की सवारी किये हुए तथा करोड़ों का अलंकार पहने हुए आन्तरिक मोह के उपशमन के साथ ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया तथा छह खण्ड के स्वामी भरत चक्रवर्ती को गृहस्थावास में ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इससे स्पष्ट है कि केवल बाह्य पदार्थों के योग से ही परिग्रह नहीं कहा जा सकता।

बाहरी पदार्थों के योग को ही यदि परिग्रह कहा जाय तो एक भिखारी जिसके पास पहनने को वस्त्र, खाने को अन्न अथवा फूटी कौड़ी भी न हो तो उसे परम अपरिग्रही तथा महात्यागी समझना चाहिए। पर ऐसा तो कोई नहीं मानता, कारण यह है कि उन भिखारियों के पास बाह्य पदार्थ नहीं होते हुए भी उनमें आन्तरिक परिग्रह यानि तृष्णा तो भरी हुई है,

इसीलिए उनका कल्याण नहीं हो सकता।

इससे सिद्ध होता है कि इच्छा, तृष्णा, आदि पाप के पुद्गल स्वयं के अपने रहते हैं। उसे आप ले-दे नहीं सकते। जो निष्परिग्रही हैं, वे जिस तरह दूसरों के करने से परिग्रही नहीं बनते, उसी तरह वीतराग की भक्ति के निमित्त द्रव्य चढ़ाने से वीतराग, परिग्रही नहीं बन जाते।

प्रश्न 46 - दान, शील, तप और भावना, ये चार प्रकार के धर्म हैं। उनमें मूर्तिपूजा किस प्रकार के धर्म में आती है?

उत्तर - मूर्तिपूजा में चारों प्रकार के धर्म मौजूद है और वे निम्नानुसार हैं -

प्रथम सुपात्र दान धर्म - इसके दो भेद : (1) अकर्मी (कर्मरहित) सुपात्र दान। (2) सकर्मी सुपात्र दान। पात्र भी दो प्रकार के हैं। एक रत्नपात्र तथा दूसरा स्वर्ण पात्र। श्री तीर्थंकर और सिद्ध कर्मरहित, आशा-तृष्णारहित रत्नपात्र हैं। उनको उत्तम पदार्थ अर्पण करना - अकर्मी सुपात्रदान गिना जाता है। दूसरा सकर्मी सुपात्रदान कहलाता है। साधु आठ कर्मों से संयुक्त होते हैं, उनको छह लेश्या भी होती हैं, भूख-प्यास शान्त करने के लिए तथा सर्दी गर्मी को दूर करने के लिए अनेक वस्तुओं के अभिलाषी भी होते हैं।

सिद्ध परमात्मा तथा केवली भगवन्तों की तुलना में छद्मस्थ साधु अल्प पूज्य हैं, फिर भी उनको दान देते हुए गृहस्थ पुण्य उपार्जन का महान् लाभ प्राप्त करते हैं तथा धीरे धीरे मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं तो फिर इच्छारहित, अकर्मी ऐसे श्री सिद्ध भगवान के सामने भावयुक्त उत्तमोत्तम द्रव्य अर्पण करने से आठ सिद्धि, नवनिधि तथा मुक्तिपद की प्राप्ति हो जाती है, इसमें कोई शंका हो नहीं सकती। एक स्थान पर कहा है कि -

''देहीति वाक्यं वचनेषु नेष्टं,
नास्तीति वाक्यं ततः कनिष्टं।
गृहाण वाक्यं वचनेषु राजा,
नेच्छामि वाक्यं राजाधिराजः ॥1॥

भावार्थ - किसी वस्तु की याचना करना कि - ''मुझे वह वस्तु दो'' यह महा नीच वचन है। वस्तु माँगने पर भी नहीं देना और मना करना, यह उससे भी नीच वचन है। वस्तु सामने लाकर कहना कि 'यह वस्तु लो' - यह राजवचन अर्थात् उत्तम वचन है। और लेने वाला व्यक्ति कहे कि ''मेरी इच्छा नहीं है'' - यह वाक्य तो राजाधिराज अर्थात् सर्वोत्तम है। अतः इच्छा-तृष्णारहित भगवान शिरोमणि सुपात्र हैं। उनके सम्मुख द्रव्य चढ़ाकर पूजा करते समय प्रथम दान धर्म सरलता से सिद्ध होता है।

दूसरा शीलधर्म - पाँचों इन्द्रियों को वश में रखने को शीलधर्म कहते हैं। गृहस्थ जब भावयुक्त द्रव्यपूजा करता है तब पाँचों इन्द्रियाँ संवरभाव को प्राप्त करती है। इससे

शीलधर्म सिद्ध होता है।

तीसरा तपधर्म - तप छह बाह्य तथा छह आभ्यन्तर भेद से बारह प्रकार का होता है। उसमें जिनप्रतिमा को पूजते समय पूजनकाल में चारों प्रकार के आहार का त्याग होने से बाह्य तप हुआ तथा भगवान का विनय, वैयावच्च, ध्यान आदि करने से आन्तरिक तप हुआ।

चौथा भावधर्म - शुभ भावना होने के कारण ही श्रावक पूजा करता है। हजारों, लाखों रुपये खर्च करके मन्दिर आदि बनवाना, बिना भाव के प्रायः अशक्य है। पूजन करते समय श्री तीर्थंकर देवों के पाँचों कल्याणकों की भावना करना भी भावधर्म है।

इस प्रकार विवेकपूर्वक विचार करने से हम समझ सकते हैं कि श्री जिनेश्वर की मूर्तिपूजा में भी चारों प्रकार के धर्मों की एक साथ आराधना होती है।

प्रश्न - 47 - "आरम्भे नत्थि दया।" यह सूत्र वचन है जिसके अनुसार दया में ही धर्म है पर आरम्भ में नहीं। श्री जिनपूजा में तो आरम्भ होता है तो फिर उससे धर्म कैसे हो सकता है?

उत्तर - मात्र एक पद बोलकर शेष गाथा छोड़ देने से अर्थ का अनर्थ होता है। पूरी गाथा का पूर्वापर सम्बन्ध मिलाकर अर्थ करने से ही सत्य पदार्थ का ज्ञान होता है। वह पूरी गाथा ऐसा अर्थ बताती है कि 'आरम्भ में दया नहीं, सद्आरम्भ बिना महापुण्य नहीं, पुण्य के बिना कर्म की निर्जरा नहीं तथा कर्म की निर्जरा बिना मोक्ष नहीं।'

ऐसा कौनसा कार्य है जिसमें आरम्भ अर्थात् द्रव्यहिंसा न होती हो? परन्तु क्रिया की प्रशस्तता तथा उस समय आत्मा के भाव आदि खास सोचने चाहिए। शुभ भाव में रहने से पाप नहीं होता। इसके लिए श्री भगवती सूत्र में फरमाया है कि -

"शुभ जोगपडुच्च अणारंभ।"

अर्थात् जहाँ मन, वचन और काया का शुभ योग होता है, ऐसे आरम्भ को श्री तीर्थंकर देव अनारम्भ कहते हैं। इससे कर्म बंधन नहीं होता।

साधु नदी उतरता है, विहार करता है, गोचरी करता है, पडिलेहण करता है, ये सभी कार्य वह जान-बूझकर करता है। अगर अनजान में करने का कहोगे, तो बड़ा दोष लगेगा क्योंकि साधु को यदि करने व न करने योग्य कार्य का ज्ञान हीं नहीं, तो वह शंकारहित सम्यग्दृष्टि किस प्रकार कहलायेगा? जैसे उन कामों में भगवान की आज्ञा है और साधु शुभ भाव में होने से कर्म नहीं बांधते, वैसे ही श्रावक को भी द्रव्यपूजा में तथा साधु को आहार देने में श्री जिनाज्ञा है। उसमें जो हिंसा दिखाई देती है वह, स्वरूप हिंसा होने से तथा उसका परिणाम, हिंसा का न होकर देवगुरु की भक्ति का होने से अनारम्भी होती है।

यहाँ ऐसा कहोगे कि 'द्रव्य पूजा में तो प्रत्यक्ष हिंसा दिखाई देती है तो उसमें धर्म कैसे हो सकता है? तो ऐसा कहना भी उचित नहीं।' 'प्रत्यक्ष जीव को नहीं मारना' इसी को यदि

अहिंसक भाव मानोगे तो सूक्ष्म एकेन्द्रिय (लोकव्यापी पाँच स्थावर) में शुद्ध अहिंसक भाव मानना चाहिए क्योंकि वे बिचारे तो हिंसा का नाम निशान भी नहीं समझते और किसी भी जीव की पीड़ा में निमित्त नहीं बनते। इसलिए वे ही शुद्ध, अहिंसक सिद्ध होंगे और यदि वे अहिंसक सिद्ध होते हैं, तो सर्वप्रथम मुक्ति भी उन्हीं जीवों की होनी चाहिए।

परन्तु ऐसी विपरीतता तीन काल में सम्भव नहीं। अतः सच्ची अहिंसा की व्याख्या जीव को नहीं मारना। इतनी ही नहीं, किन्तु 'विषय-कषाय रूप प्रमाद के योग से जीव को नहीं मारना' इसी का नाम सच्ची अहिंसा है। श्री जिनपूजा में प्रमाद का अध्यवसाय नहीं, पर भक्ति का शुभ अध्यवसाय है और इसलिये उसे जैन शास्त्रानुसार हिंसा कभी भी नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार जो व्यक्ति द्रव्य तथा भाव अहिंसा का स्वरूप जानकर अहिंसा का आदर करता है वही सच्चा अहिंसक गिना जाता है।

कितने ही कार्यों में प्रत्यक्ष हिंसा होते हुए भी उन-उन कार्यों को ऐसे-ऐसे प्रसंगों पर आदर देने की आज्ञा, शास्त्रकारों ने साधु को फरमाई है। जैसे कि -

(१) **श्री भगवतीजी** में कहा है कि श्री संघ का कारण आ पड़े तो लब्धिवंत साधु, तलवार हाथ में लेकर आकाश मार्ग से जाए।

(2) **श्री ठाणांगसूत्र** तथा **श्री बृहत्कल्पसूत्र** में कहा है कि कीचड़ में तथा जल में फँसी हुई साध्वी को बाहर निकालने पर भी साधु जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता तथा साधु-साध्वी के पैर में काँटा अथवा कील चुभ जाय या आँख में धूल गिर जाय और कोई निकालने वाला नहीं हो तो वे आपस में भी निकालें।

(3) **श्री सूयगडांग सूत्र** में कहा है कि कारणवश आधाकर्मी आहार लेने में साधु को दोष नहीं लगता।.

(4) **श्री आचारांग सूत्र** में साधु को नदी में उतरने की तथा खड्डे में गिर जाय तो पेड़ की डाल अथवा घास आदि को पकड़कर बाहर निकलने की आज्ञा है।

(5) **श्री उववाई सूत्र** में कहा है कि शिष्य की परीक्षा लेने के लिए गुरु उस पर झूठे दोष लगाये।

अब यदि प्रत्यक्ष जीवों को नहीं मारना, इसी को अहिंसा कहोगे तो पंचमहाव्रतधारी साधु को तो तीनों प्रकार की हिंसा का पच्चक्खाण है फिर भी उसे उपर्युक्त कार्य करने को कहा गया है, तो इसका क्या? इसमें तुम जैसी हिंसा कहते हो वैसी हिंसा तो स्पष्ट रूप से रही हुई ही है। अतः साधु जो उपर्युक्त आज्ञाविरहित कार्य करे तो क्या उससे, उसके व्रतों का खण्डन होगा या नहीं? फिर तुम कहते हो कि खाते-पीते, उठते-बैठते भी ऐसी हिंसा तो होती ही है, तो उसके अनुसार वे हिंसक हैं या अहिंसक? भगवान ने तो इस प्रकार जीवों

की हिंसा होने पर भी यतनावान् साधुओं को आराधक कहा है।

धर्म के निमित्त शुभ भाव से कोई काम करते हुए हिंसा होती है, उसको भी शास्त्रकारों ने विराधक नहीं माना है। साधु को जब इस प्रकार अधिक लाभ देखकर हिंसायुक्त लगने वाले कार्यों को भी करने की अनुमति है, तो श्रावक को धर्म के निमित्त आरम्भ करते पाप लगे, ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसे कार्यों को तो भगवान् शुभानुबन्धी कहते हैं। जैसे कि -

(1) **सूर्याभदेव** के सामानिक देवताओं ने समवसरण आदि रचकर भक्ति करने की अपनी इच्छा भगवान को बताई थी। तब भगवान ने कहा कि, तुम्हारा यह धर्म है। मैंने तथा अन्य तीर्थंकरों ने इसके लिए अनुज्ञा दी है, आदि। एक योजन प्रमाण जमीन साफ करने में असंख्य वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय तथा अन्य जीव-जन्तुओं का संहार होता है और फिर भी उसमें देवताओं की भक्ति को प्रधान मानकर भगवान ने उसके लिए आज्ञा दी है।

(2) **श्री रायपसेणी सूत्र** में चित्र मंत्री, कपट करके घोड़ा दौड़ाकर, प्रदेशी राजा को श्री केशी गणधर महाराज के पास उपदेश दिलाने ले गया। उसमें अनेक जीवों का संहार होने पर भी परिणाम शुद्ध होने से उसके इस कार्य को धर्म की दलाली कहा गया है न कि पाप की दलाली।

(3) उसी प्रकार श्रीकृष्ण महाराज ने दीक्षा की दलाली की और उसको भी पाप की दलाली न कहकर धर्म दलाली ही कहा गया है।

(4) **श्री ज्ञातासूत्र** में श्री सुबुद्धिप्रधान ने श्री जितशत्रु राजा को समझाने के लिए गंदा पानी साफ करने हेतु हिंसा की, उसे भी धर्म के लिए कहा गया है।

(5) किसी को दीक्षा लेने की इच्छा है। उसे ओघा, मुहपत्ति, वस्त्र, पात्र की जरूरत है। यदि ये वस्तुएँ कोई श्रावक देता है, तो उसमें धर्म है या अधर्म?

(6) साधु का आगमन जानकर दूर तक सामने जावे, विहार करते जानकर रोकने जावे, सैकड़ों कोस दूर तक वन्दन करने जावे, कल्प्य वस्तुओं की व्यवस्था कर दे, दीक्षामहोत्सव, मरणमहोत्सव आदि करे, इन सब कामों में पंचेन्द्रिय तक के जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा होती है। फिर भी ऐसा करने में धर्म होता है अथवा अधर्म?

(7) श्री मल्लिनाथ स्वामी ने छह राजाओं को प्रतिबोध देने के उद्देश्य से मोहनघर बनाकर अपने ऊपर के मोह को दूर करने के लिए अपने स्वरूप की एक प्रतिमा खड़ी की तथा उसमें नित्य आहार पानी डालते, उसमें लाखों जीवों की उत्पत्ति हुई और उनका नाश हुआ फिर भी भगवान को उसका पाप नहीं लगा। वे तो उसी भव में मोक्ष में गए। उससे यदि पापवृद्धि होती तो वे ऐसा क्यों करते तथा करने पर भी मोक्ष कैसे प्राप्त करते?

इस तरह आज्ञा सहित के कार्यों में स्वरूपहिंसा होती है परन्तु परिणाम की विशुद्धता से अनुबन्ध रूप से 'दया है' ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ पर कोई शंका करे कि -

''श्री तीर्थंकरदेव अपनी भक्ति के लिए छह काय के जीवों के संहार की आज्ञा किस प्रकार दे सकते हैं?''

उसके उत्तर में कहने का है कि महान् पुरुष कदापि ऐसा नहीं कहते कि 'मेरी भक्ति करो', 'मुझे वन्दन करो' अथवा 'मेरी पूजा करो'। पर श्री गणधर महाराज की बताई हुई शास्त्रयुक्त विधि के अनुसार पूजन करने से सेवक वर्ग का अवश्य कल्याण होता है। जैसे साधु स्वयं को लक्ष्य कर नहीं कहता कि 'मेरी भक्ति-सेवा करो' पर उपदेश द्वारा सामान्य रीति से गुरुभक्ति का स्वरूप बतावे, सुपात्रदान की महिमा समझावे तथा भक्तजन तदनुसार आचरण करें, तो इससे साधु को अपनी भक्ति का उपदेश देने वाला नहीं गिना जाता, क्योंकि समुदाय की भक्ति के उपदेश में व्यक्ति का प्रवर्तकपन नहीं गिना जाता।

प्रश्न 47- किसी जीव को मारना, छह काय का संहार करना, यह हिंसा है तथा जीव पर दया लाकर उसे न मारना, छह काय की रक्षा करना, यह धर्म है तो फिर जानबुझ कर जीवहिंसा से धर्म कैसे होता है?

उत्तर - यह प्रश्न एकान्तवादी का है। पहले साधु-साध्वी तथा श्रावकों के लिए जिस काम को करने की आज्ञा बतायी गयी है, उसमें क्या हिंसा नहीं है? अवश्य है; पर यह हिंसा केवल द्रव्यहिंसा है, मारने के द्वेष रुप परिणाम से की हुई हिंसा नहीं है। इसलिए वह हिंसा पापकारी अथवा भावहिंसा नहीं मानी जाती। बाकी हिंसा तो श्वास लेते, हाथ-पैर हिलाते और चलते बैठते हुआ ही करती है। प्राय: कोई भी कार्य ऐसा नहीं, जिसमें द्रव्यहिंसा न होती हो।

अब ऊपर के कामों में होने वाली हिंसा अनजाने होती है, ऐसा कहना भी अनुचित है क्योंकि आहार, निहार, विहार आदि तमाम आवश्यक क्रियाएँ जान-बुझ कर की जाती हैं। उनको अनजान में करने का, कहने से तो उन क्रियाओं के करने वाले सभी साधु, श्रावक अज्ञानी ठहरेंगे जिनको कृत्याकृत्य व गमनागमन की भी खबर नहीं। और यदि ऐसा होता है, तो उन्हें सम्यग्दृष्टि कैसे कह सकते हैं? अत: भगवान की आज्ञा में रह कर उनके आदेशानुसार काम करने वाला व्यक्ति हिंसक नहीं, परन्तु अहिंसक और पापी नहीं, किन्तु पुण्यवान गिना जाता है। यदि ऐसा न मानें तो एकेन्द्रिय जीव तो जाने-अनजाने लेशमात्र भी हिंसा नहीं करते, इसलिए उनको तो सर्वोच्च गति प्राप्त होनी चाहिए और यदि ऐसा ही बन जाता है तो क्रिया, कष्ट, तप, जप आदि का क्या प्रयोजन?

केवल मुँह से 'दया, दया' की पुकार करने से दया उत्पन्न नहीं होती। इसके लिए

दया तथा हिंसा का परमार्थ स्वरूप क्या है? उसे समझना चाहिए। शास्त्रों में हिंसा तथा अहिंसा तीन-तीन प्रकार की कही है।

हिंसा के तीन प्रकार हैं -

(1) हेतु हिंसा (2) स्वरूप हिंसा (3) अनुबन्ध हिंसा

वैसे ही अहिंसा के भी तीन प्रकार हैं -

(1) हेतु अहिंसा (2) स्वरूप अहिंसा (3) अनुबन्ध अहिंसा

जिनमें जीवहिंसा हुई नहीं, पर जीव-रक्षा के प्रयत्न का अभाव है, उसे हेतु हिंसा कहा जाता है। जिसमें जीव-रक्षा का प्रयत्न होते हुए भी जीववध हुआ है, उसे स्वरूप हिंसा कहा जाता है एवं जिसमें जीव का वध भी है तथा जीव-रक्षा का प्रयत्न भी नहीं है, वह अनुबन्ध हिंसा कहलाती है।

इसी प्रकार अहिंसा के लिए भी समझ लेना।

श्री जिनपूजादि धर्मकार्य में स्वरूप-हिंसा है, पर हिंसा का भाव न होने के कारण अनुबन्ध, अहिंसा का पड़ता है। जब तक मन, वचन और काया के योग से सम्पूर्ण स्थिरता नहीं हो जाती तब तक बोलते, उठते ऐसे प्रत्येक कार्य करते आरम्भ तथा उससे अल्पाधिक कर्मबन्धन होता ही रहता है। ऐसी दशा में सर्वथा अहिंसा किसी भी कार्य में किस प्रकार हो सकती है?

श्री ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में चतुर्भंगी कही है -

(1) सावद्य व्यापार और सावद्य परिणाम

(2) सावद्य व्यापार और निरवद्य परिणाम

(3) निरवद्य व्यापार और सावद्य परिणाम

(4) निरवद्य व्यापार और निरवद्य परिणाम

इसमें प्रथम विभाग मिथ्यात्व के आश्रित है। दूसरा विभाग सम्यग्दृष्टि तथा देशविरति श्रावक का है क्योंकि श्रावक के योग्य देवपूजा, साधुवन्दन आदि धार्मिक कार्यों में दिखने में तो वे सावद्य व्यापार मालूम होते हैं, पर उनमें श्रावक के परिणाम, हिंसा के न होने के कारण वह केवल स्वरूप-हिंसा है। जिसका पाप आकाश-कुसुम की तरह आत्मा को लग ही नहीं पाता। तीसरा विभाग श्री प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जैसे का जानना और चौथा विभाग सर्वविरति साधु सम्बन्धी है।

द्रव्यपूजा करने से हिंसा का पाप लगने का कोई कारण नहीं है।

श्री ठाणांगसूत्र के पाँचवें ठाणे के दूसरे उपदेश में कर्मबन्धन के पाँच द्वार बताए हैं।

''पंच आसवदारा पन्नता, तं जहा - (1) मिच्छन्त (2) अविरई (3) पमाओ (4) कषाय (5) जोगा''

अर्थ - पापबन्ध के पाँच कारण बताये हैं (1) मिथ्यात्व (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय और (5) योग

जबकि प्रभु-पूजा शान्त चित्त से, सम्यक्त्वसहित प्रमादरहित एवं विधिपूर्वक होने से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय आदि चार प्रकार से कर्मबन्ध होना तनिक भी सम्भव नहीं है। पाँचवाँ ''योग'' निमित्त रहा। **श्री भगवती सूत्र** में (1) शुभ योग तथा (2) अशुभ योग - योग के ऐसे दो प्रकार बताये हैं। शुभ योग पुण्यबन्ध का तथा अशुभ योग पापबन्ध का कारण है।

श्री जिनपूजा में किसी प्रकार की निन्दा अथवा अवर्णवाद आदि न होने से अशुभ योग तो कहा ही नहीं जा सकता। केवल श्री जिनेश्वरदेव की भक्ति, गुणगान, स्तुति आदि के कारण शुभ योग ही कहा जाता है और जितनी मात्रा में वह होगा, उतनी ही मात्रा में शुभ बन्ध पड़ेगा। क्योंकि कारण बिना कार्य पैदा नहीं होता। द्रव्यपूजा में अशुभबन्ध के कारण का अभाव होने से शुभ फल ही होता है।

तर्क - ऐसे तो धर्म के निमित्त मांसाहार करते हुए भी कोई शुभ भाव रखे, तो उसे भी पाप नहीं लगना चाहिए।

समाधान - यदि मांसाहार करने से बुद्धि तथा परिणाम शुद्ध रहते हों तो सर्वज्ञ परमात्मा को भक्ष्याभक्ष्य का भेद बताने की जरूरत ही नहीं होती। विद्वान् डॉक्टर भी मांसाहार को अच्छी बुद्धि-प्रदायक नहीं मानते। इसके विपरीत वे इसका निषेध करते हैं।

अन्न, जल आदि भक्ष्य पदार्थ पौष्टिक तथा शारीरिक एवं मानसिक बल की वृद्धि करने वाले हैं, जबकि मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य वस्तुएँ विकार करने वाली, रोग बढ़ाने वाली, शरीर तथा मन को बिगाड़ने वाली तथा कुबुद्धि और निर्दयता का कारण होने के कारण अग्राह्य है। उनके खाने से शुभ भावना कैसे हो सकती है? ''अन्न जैसी डकार'' ''और जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन'' कहावतों को भूलना नहीं चाहिए।

एकेन्द्रिय तो केवल अव्यक्त चेतना वाले हैं। उनकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय अनन्तगुण पुण्यशाली है। इस प्रकार क्रमशः पंचेन्द्रिय जीवों की पुण्याई उनसे अनन्तगुणी है। तो उनको मारने से पाप भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा अनन्तगुणा विशेष है।

और उनको मारने में तीक्ष्ण शस्त्र का उपयोग करते समय क्रोध तथा निर्दयता करनी पड़ती है। जिससे निष्ठुर परिणाम तो प्रारम्भ में ही हो चुके होते हैं तथा मांस में समय-समय पर पंचेन्द्रिय (समूर्च्छिम) जीवों की उत्पत्ति तथा विनाश हुआ करता है। इसी कारण

अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ परमात्माओं ने ऐसी घोर हिंसा का सर्वथा निषेध किया है तथा अल्प पाप के कारण अन्न, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय पदार्थों को ही भक्ष्य फरमाया है। इस पर भी श्री जिनपूजा के साथ मांस भोजन की तुलना करना, अत्यन्त अज्ञानता एवं धर्मद्वेष का सूचक है।

प्रश्न 48 - पुष्पपूजा से पुष्प के जीवों को कष्ट पहुँचता है, इसका क्या?

उत्तर - जो फूल भगवान पर चढ़ते हैं, उनके जीवों को कोई कष्ट नहीं होता, बल्कि उनको सुरक्षित स्थान मिलता है। इससे पुष्पपूजा करने वाले तो उन पर दया करने वाले है। उन फूलों को कोई शौकिन लोग ले जाकर हार, गजरा आदि बना कर सूँघते हैं, मसलते हैं, वेश्या अपने पलग पर बिछाती है. अत्तर के व्यापारी उसे चूल्हे पर चढ़ाते हैं, तेल निकालने के लिए उन्हें पीसते हैं, इस तरह भाँति-भाँति से कष्ट पहुँचाते हैं, जबकि जो फूल प्रभु के अंगों पर चढ़ते हैं, उनको तो जीवन भर कष्ट पहुँचाने या मारने की किसी की शक्ती नहीं। इसलिए वे तो सुख से अपनी आयुष्य पूर्ण करते हैं। श्रद्धापूर्वक फूलों को लाकर, उनको हार में पिरोकर विधिपूर्वक भगवान को चढ़ाने वाला पुष्प के जीवों को कष्ट न देकर सुरक्षा प्रदान करता है।

श्री आवश्यक सूत्र की बृहद्वृत्ति के द्वितीय खण्ड में कहा है कि -

"जहा णवणयराइसन्निवेसे केइ पभूय जलाभावओ तण्हाइपरिगया तदपनोदार्थं कूपं खणंति तेसिं च जइवि तण्हादिया वड्ढंति मट्टिकाकद्दमाईहिं य मलिणिज्जन्ति तहावि तदुब्भवेण चेव पाणिएणं तेसिं ते तण्हाइया सो य मलो पुव्वओ य फिट्टइ सेसकालं च ते तदण्णे य लोगा सुहभागिणो हवंति एवं दव्वत्थए जइयि असंजमो तहावि तओ चेव सा परिणामसुद्धी हवइ जाए असंजमो वज्जिय अण्णं च निरयसेसं खवेइन्ति तम्हा विरियाविरएहिं एस दव्वत्थओ कायव्वो सुभाणुबंधी पभूयतरणिज्जराफलो यन्ति काउणमिन्ति"

"जिस प्रकार किसी नये नगर में पर्याप्त जल के अभाव में बहुत से लोग प्यास से मरते हों तो प्यास दूर करने के लिये वे कुआ खोदते है। उस समय उन्हें अधिक प्यास लगती है तथा कीचड़ और मिट्टी से शरीर मलिन बन जाता है, तो भी कुआ खोदने के बाद उसमें से निकले हुए पानी से उनकी प्यास बुझ जाती है, तथा पहले लगा हुआ कीचड़ भी दूर हो जाता है। उसके पश्चात् वे खोदने वाले तथा अन्य लोग उस पानी से सुख भोगते हैं।

उसी प्रकार द्रव्यपूजा में जो स्वरूप जीवहिंसा दिखाई देती है पर उस पूजा से परिणाम की ऐसी शुद्धि होती है कि जिससे असंयम से उत्पन्न हुए अन्य सन्ताप भी नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् यह पूजा संसार को क्षीण करने का सबल कारण बनती है। इस कारण देशविरति श्रावक के लिए जिनपूजा

शुभानुबन्धी और अत्यन्त निर्जरा फल को देने वाली है।

जैसे दयालु डॉक्टर रोगी व्यक्ति पर दया लाकर, उसका रोग दूर करने के लिए नाना प्रकार की कड़वी औषधियाँ देता है अथवा उस रोगी के शरीर की शल्यक्रिया करता है, जिससे उसे अत्यन्त पीड़ा होता है। उससे हैरान होकर भी वह अपने परोपकारी डॉक्टर की निन्दा नहीं करता और इसी तरह अन्य लोग भी उस डॉक्टर को निर्दयी अथवा पापी नहीं कहते, क्योंकि डॉक्टर का काम तो रोग दूर करना होता है, उसे किसी प्रकार हिंसक अथवा अधर्मी नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक एकेन्द्रिय जीवों पर अनुकम्पा लाकर, उनके मिथ्यात्व रूपी रोग को दूर करने के लिए उनको भगवान के चरण कमलों में पहुँचाता है। अत: वे पुष्पादि वस्तुएँ तो धन्य हैं कि उनका ऐसे उत्तम कार्य में उपयोग हुआ। उन वस्तुओं का ऐसा अहोभाग्य कहाँ कि जिससे उनको परमेश्वर के चरण-कमलों का स्पर्श हो अथवा वहाँ आश्रय मिले। धर्मदाता गुरु महाराज भी शिष्य के अज्ञान रूपी अन्धकार को हटाने के लिए उसकी नाना प्रकार से ताड़ना करते हैं, उस पर क्रोध करते हैं, शिष्य को प्रत्यक्ष कष्ट देते हैं, फिर भी उनको कोई बुरा या निर्दय नहीं कहता, पर उलटी उनकी प्रशंसा ही करते हैं। ऐसा ही श्री जिनपूजा के लिए उपयोग में आने वाले एकेन्द्रिय जीवों के विषय में भी समझना चाहिए।

प्रश्न 49 - तीर्थंकर देव के समवसरण में देवतागण फूलों की वृष्टि करते हैं। वे सचित्त हों तो साधु से उनका संघट्टा कैसे हो सकता है?

उत्तर - श्री समवायांग तथा **श्री रायपसेणी सूत्र** में स्पष्ट कहा है कि 'जलज थलज' इत्यादि शब्दों से जल में उत्पन्न कमलादि तथा स्थल अर्थात् जमीन पर उत्पन्न जाई, जुई, केवड़ा, चंपा, गुलाब आदि पाँच रंगों के फूलों की, कंद नीचे तथा मुख ऊपर ऐसे जानु-प्रमाण फूलों की वृष्टि होने का उल्लेख है। इससे वे फूल अचित्त नहीं पर सचित्त ही साबित होते हैं।

ऊपर के सूत्रों में लिखा है कि **'पुप्फवद्दलए विउव्वंति'** अर्थात् फूलों के बादल बनाए हैं, परन्तु फूल नहीं बनाए। इससे भी वैक्रिय फूल सिद्ध नहीं होते।

अब सचित्त फूल का स्पर्श साधु कैसे करे? इसके उत्तर में कहना है कि घुटनों तक फैले हुए फूलों को साधु अथवा अन्य किसी व्यक्ति से जरा भी बाधा नहीं पहुँचती, ऐसा भगवान का अतिशय है। जिनके प्रभाव से शेर तथा हिरण, बिल्ली तथा चूहा, चीता तथा बकरी इत्यादि जानवर अपने जातिस्वभाव के पारस्परिक वैर को भी भूल कर धर्म का उपदेश सुनते हैं।

उसके प्रभाव से पुष्प के जीवों को कष्ट न हो तो, इसमें आश्चर्य किस बात का?

श्री स्थूलभद्रजी के चरित्र में कहा है कि 'कोशा' गणिका ने सरसों के ढेर पर सुई को खड़ा कर उस पर गुलाब का फूल रखकर उस पर नाच किया, फिर भी सुई को अथवा फूल को कोई भी हानि नहीं पहुँची। सोचो कि सरसों पर सुई, उस पर फूल और फूल पर स्त्री का बोझ होते हुए भी किसी को बाधा नहीं पहुँची तो फिर अत्यन्त अचिन्त्य तथा निरुपम प्रभावशाली श्री तीर्थंकरदेव के अतिशय से फूलों को बाधा न हो बल्कि वे प्रफुल्लित हों, इसमें अशक्य क्या है?

जिनके सम्पर्क से करोड़ों जीव समवसरण भूमि में एकत्र होते हुए भी भीड़ का नाम नहीं, उनका प्रभाव सामान्य जन की कल्पना से बाहर होता है, इसमें कौनसी बड़ी बात है?

अकथनीय शक्ति के स्वामी देवता जल-थल में उत्पन्न फूल लाकर, उनके बादल बनाकर ऐसी खूबी के साथ बरसाते हैं कि जिससे मनुष्य के पैरों से उनको हानि अथवा कष्ट न हो। तथा समवसरण के बीच गढ़ की दीवार के पास चारों ओर फूलों की पंक्ति ऐसी बनाते हैं कि जिससे आने-जाने वाले साधुओं के पैर के नीचे भी पुष्प नहीं आवें। जिस प्रकार बाग में चारों ओर हरी दूब होती है पर बीच में आने-जाने की सड़कें तथा खुली जमीन रहती हैं और लोग वहाँ बैठते हैं वैसे ही फूलों की वर्षा होने में आश्चर्य नहीं है।

प्रश्न 50 - समवसरण में सचित्त वस्तु को बाहर रखना और अचित्त को अन्दर ले जाना, ऐसी आज्ञा है, इसका मेल कैसे बिठाना?

उत्तर - सचित्त वस्तु को बाहर छोड़ने की जो बात कही गई है वह अपने उपयोग की वस्तु के लिए है किन्तु पूजा की सामग्री के लिए नहीं। यदि सचित्त वस्तुमात्र का निषेध करोगे तो मनुष्य आदि का शरीर भी सचित्त है अतः उसको भी नहीं ले जाना चाहिए। पर ऐसा होने से तो समवसरण में कोई जा ही नहीं सकता।

जीवयुक्त पदार्थ की अन्दर प्रवेश करने की शक्ति है, अचित्त की नहीं तथा सचित्त को छोड़कर अचित्त को अन्दर ले जाने की ही बात मानोगे तो राजा के छत्र, चँवर, छड़ी, तलवार, मुकुट तथा सभी लोगों के जूते भी अचित्त होने से अन्दर ले जाये जा सकते हैं, पर उसके लिए तो मना है। उसी प्रकार खाने की अचित्त वस्तु भी बाहर छोड़नी पड़ती है। इससे सिद्ध होता है कि पूजा की सामग्री सचित्त हो या अचित्त उसे समवसरण में ले जाने में कोई आपत्ति नहीं। इसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि अपने खान-पान की कोई भी वस्तु चाहे वह अचित्त हो, फिर भी भीतर नहीं ले जाई सकती।

प्रश्न 51 - जिस द्रव्यपूजा को साधु नहीं करता, उसका उपदेश देकर दूसरों से करवाने से क्या लाभ?

उत्तर - पंचमहाव्रतधारिणी साध्वी को, साधु नमस्कार न करे, वैयावच्च न करे परन्तु श्रावकों को उपदेश देकर आहार दिलावे, वन्दना करावे, दूसरी साध्वी को कहकर वैयावच्च

करावे तथा करने वाले को अच्छा समझे। साथ ही साधु अपने दीक्षित शिष्य को वन्दन न करे, परन्तु दूसरे से वन्दन करावे।

दूसरी दृष्टि से देखें तो गरीबों को दान देना, साधर्मिक वात्सल्य करना, तपस्वियों को पारणा कराना, मुनिराज के योग्य वस्तुओं की पूर्ति करना आदि धर्म के अनेक कार्य है। फिर भी साधु का आचार न होने से वह यह सब न करे, पर श्रावकों को ऐसा करने का उपदेश दे तथा उसकी अनुमोदना करे। इस न्याय से साधु सर्वथा द्रव्य के त्यागी और निरारंभी होने से द्रव्यपूजा न करे, पर उपदेश द्वारा करावे तथा उसकी अनुमोदना करे।

प्रश्न 52 - श्रावक के बारह व्रतों में श्री जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा कौनसे व्रत में आती है?

उत्तर - जिसके बिना सभी व्रत निष्फल हैं, ऐसी समस्त शुभ क्रियाओं का मूल सम्यक्त्व है। उसके करने में श्रावक को गृहस्थावास में रहते हुए भी श्री जिनमूर्ति की द्रव्य-भाव पूजा करना उचित है। देव तो श्री अरिहन्तदेव, गुरु तो श्री जैनधर्म के शुद्ध गुरु और धर्म तो केवलीप्रणीत सत्य धर्म। ये तीनों वस्तुएँ चारों निक्षेपों से सभी को वन्दनीय एवं पूजनीय हैं। इनको मानने वाला सम्यग्दृष्टि और नहीं मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार श्री जिनपूजा सम्यक्त्व का मूल है और सम्यक्त्व सभी व्रतों का मूल है। सम्यक्त्व के बिना सारी क्रियाएँ निष्फल हैं।

प्रश्न 53 - तपस्या करने से अनेक लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं परन्तु क्या श्री जिनप्रतिमा की पूजा करने से किसी को लब्धि या ज्ञान की उत्पत्ति होना सुनी है?

उत्तर - श्री रायपसेणी, श्री भगवतीसूत्र, श्री जीवाभिगम, श्री ज्ञातासूत्र, श्री उववाई सूत्र, श्री आवश्यक सूत्रादि बहुत से सूत्रों में मूर्तिपूजा को कल्याणकारी, मंगलकारी और अन्त में मोक्ष देने वाली कहा है। उत्कृष्ट पुण्य जो तीर्थंकर गोत्र है, वह भी जिनपूजा से बँधता है। अन्य देव की मूर्तिकी आराधना से भी लोगों के धन, धान्य, पुत्र आदि की प्राप्ति के दृष्टान्त विद्यमान हैं तो श्री वीतराग की मूर्ति की आराधना से प्रत्येक मनवांछित लब्धि प्राप्त हो - इसमें क्या आश्चर्य है! इसके सम्बन्ध में दृष्टांत निम्नानुसार हैं -

(1) अनार्य देश का निवासी श्री आर्द्रकुमार श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा के दर्शन से जातिस्मरणज्ञान प्राप्त कर वैराग्य दशा में लीन हुआ, जिसका वर्णन बारह सौ वर्ष पूर्व लिखित श्री सूयगडांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन की टीका में है।

(2) श्री महावीर स्वामी के चौथे पट्टधर तथा श्री दशवैकालिक सूत्र के कर्ता श्री शय्यंभवसूरि को, श्री शांतिनाथजी की प्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोध प्राप्त हुआ, ऐसा श्री

कल्पसूत्र की स्थिरावली की टीका में कहा है।

(3) **श्री द्वीपसागरपन्नत्ति** तथा **श्री हरिभद्रसूरिकृत आवश्यक** की बड़ी टीका के अनुसार श्री जिनप्रतिमा के आकार की मछलियाँ समुद्र में होती हैं। जिनको देखकर अनेक भव्य मछलियों को जातिस्मरणज्ञान प्राप्त होता है और बारह व्रत धारण कर सम्यक्त्व सहित आठवें देवलोक में जाती है। इस प्रकार तिर्यंच जाति को भी जिनप्रतिमा के आकार मात्र के दर्शन से अलभ्य लाभ प्राप्त होता है तो मनुष्य को अलभ्य-लाभ प्राप्त हो, इसमें क्या शंका हो सकती है?

(4) **श्री ज्ञातासूत्र** में श्री तीर्थंकर गोत्र-बन्ध के बीस स्थानक कहे हैं। उसके अनुसार राजा रावण ने प्रथम अरिहन्तपद की आराधना, श्री अष्टापद पर रहने वाले तीर्थंकर देव की मूर्ति की भक्ति कर, तीर्थंकर गोत्र बाँधा, ऐसा रामायण में कहा है। यह रामायण श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने सत्रह सौ वर्ष पूर्व हुए, श्री जिनसेनाचार्य कृत पद्मचरित्र के आधार से बनाई है और जिसे प्राय: तमाम जैन मानते हैं।

(5) उसी ग्रन्थ में लिखा है कि रावण ने **श्री शान्तिनाथ प्रभु** की मूर्ति के सामने बहुरूपिणी विद्या की साधना की और प्रभु भक्ति से वह विद्या सिद्ध हो गई।

(6) **श्री पद्मचरित्र** में कहा है कि लंका जाते समय श्री रामचन्द्रजी ने समुद्र पार उतरने के लिए श्री जिनमूर्ति के सामने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति दी, जिसके प्रभाव से उन्होंने आसानी से समुद्र पार कर लिया।

(7) जरासंध राजा ने कृष्ण महाराज की सेना पर जरा डाली, सभी सैनिक बेहोश हो गए। तब श्री नेमिनाथ स्वामी की आज्ञा से कृष्ण राजा ने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु की मूर्ति दी, जिसके स्नान जल से 'जरा' टूट गई और सारे सैनिक होश में आ गये। यह मूर्ति शंखेश्वर पार्श्वनाथ के नाम से अब भी गुजरात में विद्यमान है (यह कथन **श्री हरिवंशचरित्र** में है)।

(8) नागार्जुन जोगी को कहीं भी स्वर्ण-सिद्धि नहीं हुई। अन्त में श्री पादलिप्ताचार्य के वचन से श्री पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा के सामने श्रद्धापूर्वक एकाग्रता करने से वह सिद्धि प्राप्त हुई। इससे वह योगी परम सम्यक्त्वधारी श्रावक बना और गुरु पादलिप्ताचार्य की कीर्ति के लिए श्री शत्रुंजय की तलेटी में पालीताणा नगर बसाया, ऐसा श्री पादलिप्त चरित्र में लिखा है।

(9) श्री श्रीपाल राजा तथा सात सौ कोढ़ियों का अठारह प्रकार का कोढ़ उज्जैन नगर में श्री केसरियानाथजी की मूर्ति के सामने, श्री सिद्धचक्र यंत्र के स्नान जल से दूर हो गया तथा उनकी काया कंचन समान बन गई। वह मूर्ति हाल में मेवाड़ में धुलेवा नगर में बिराजमान है। (देखो श्री श्रीपाल चरित्र)।

(10) **श्री अभयदेवसूरिजी** का कोढ़ **श्री स्तम्भन पार्श्वनाथजी** की मूर्ति के स्नानजल से गया। उसके पश्चात् उन्होंने नव अंग सूत्रों की टीका रची।

(11) श्री गौतम स्वामी की शंका निवारण करने के लिए भगवान ने श्रीमुख से फरमाया है कि - जो व्यक्ति आत्मलब्धि से श्री अष्टापद तीर्थ पर चढ़ कर भरत राजा द्वारा बनवाई हुई जिन प्रतिमाओं का भावपूर्वक दर्शन करेगा तो वह इसी भव में मोक्ष में जायेगा। इस बात का निश्चय करने के लिए, श्री गौतम स्वामी अष्टापद पर चढ़े तथा यात्रा करके उसी भव में मोक्ष गये, ऐसा पाठ **श्री आवश्यक निर्युक्ति** में है।

(12) **श्री भगवती सूत्र** के मूल पाठ में कहा है कि - भावपूर्वक श्री जिनमूर्ति का शरण लेने पर कभी नुकसान नहीं होता।

(13) **चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहुस्वामी** 'श्री आवश्यक निर्युक्ति' में फरमाते है कि -

अकसिणपवत्तगाणं, विरयविरयाणं एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥1॥

भावार्थ - देश-विरति श्रावक को पुष्पादि के द्वारा द्रव्यपूजा अवश्य करनी चाहिए। यह द्रव्यपूजा कुए के दृष्टांत से संसार को पतला करने वाली है।

(14) टीकाकार भगवान **श्री हरिभद्रसूरिजी** ने **श्री आवश्यकवृत्ति** में ऐसा बताया है कि प्रभुपुजा पुण्य का अनुबन्ध करने वाली तथा बहु निर्जरा के फल को देने वाली है।

(15) **श्री अभयदेवसूरिजी** ने पूजा के फल को बताते हुए कहा है कि यद्यपि श्री जिनपूजा में स्वरूपहिंसा दिखाई देती है, फिर भी वह पूजा करने से गृहस्थ (कुए के दृष्टांत से) शुद्ध होता है तथा परिणाम की निर्मलता के अनुक्रम से मुक्तिफल प्राप्त करता है।

(16) गुणवर्मा राजा के सत्रह पुत्रों में से प्रत्येक ने भिन्नभिन्न प्रकार की पूजा की तथा वे उसी भव में मोक्ष गये, ऐसा सत्रह प्रकार की पूजा के चरित्र में कहा है। सत्रह प्रकार की पूजा का विस्तृत वर्णन **श्री रायपसेणी सूत्र** में है।

(17) श्री जिनप्रतिमा की पूजा, भक्ति करने से श्री शांतिनाथ स्वामी के जीव ने श्री तीर्थंकर गोत्र का बंध किया था, ऐसा **प्रथमानुयोग सूत्र** में कहा है।

(18) **श्री भगवती सूत्र** में ऐसा कहा है कि तीर्थंकर का नाम तथा गोत्र सुनने से भी महापुण्य होता है, तो प्रतिमा में तो उनके नाम तथा स्थापना दोनों है, अत: उन दोनों की पूजा होने से विशेष पुण्य हो, इसमें क्या आश्चर्य!

(19) श्री श्रेणिक राजा ने श्री जिनेश्वरदेव की प्रतिमा की आराधना से तीर्थंकर गोत्र बाँधा, ऐसा अधिकार 'योगशास्त्र' में है।

(२०) **श्री महानिशीथ सूत्र** में श्री जिनमन्दिर बनवाने वाला बारहवें देवलोक में जाता है, ऐसा कहा है।

ऐसे सैकडों मूल सूत्र तथा निर्युक्ति आदि के प्रमाणों से मूर्तिपूजा उत्तम फल देने वाली सिद्ध होती है।

वर्तमान में कई लोग अपने आत्मिक धन का झूठा अभिमान करके निश्चय को आगे कर द्रव्यरहित, केवल भाव की ही बात करते हैं और इसके द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि का आडम्बर करते हैं; परन्तु ऐसा करने से थोड़ा बहुत भी जो आत्मिक धन होता है उसे भी अपने अहम् अथवा अहंकार से खोकर वे निर्धन बन जाते हैं। इस विषय में **उत्तराध्ययन सूत्र** में एक दृष्टांत है।

किसी साहूकार ने अपने तीन पुत्रों की परीक्षा लेने के लिए प्रत्येक को हजार-हजार स्वर्णमुद्रायें देकर परदेश भेजा और कहा कि इस धन से व्यापार कर, लाभ प्राप्त कर, शीघ्र लौट आओ।

बड़े पुत्र ने तो कर्मचारी नियुक्त कर, आने जाने वालों का अच्छा आतिथ्य सत्कार कर, सभी को प्रसन्न कर, अपने व्यवसाय में खूब धन कमाया।

दूसरे पुत्र ने विचार किया कि अपने पास तो धन बहुत है, उसे बढ़ाकर क्या करना है? मूलधन बना रहे, इतना काफी है। ऐसा सोचकर मूलधन को कायम रखकर ऊपर का नफा खाने-पीने व मौज-शौक में उड़ा दिया। तीसरे पुत्र ने मन में सोचा कि पिता की मृत्यु के पश्चात् उनकी विपुल धनराशि के मालिक हम ही तो हैं, फिर कमाने की चिन्ता क्यों करना? ऐसे अभिमानी विचार से उसने मूल रकम भी मौज-शौक में उड़ा दी।

अब कुछ समय पश्चात् तीनों पुत्र, अपने पिता के पास घर पहुँचे। सारी बात पूछने के बाद उस पुत्र को, जिसने मूलधन भी उड़ा दिया था, घर के काम-काज में नौकर की तरह रख, अपना गुजारा करने को कहा, अर्थात् श्रेष्ठिपुत्र के पद से हटाकर नौकर बनाया। दूसरे पुत्र को जिसने मूलधन को रखकर उसमें कोई वृद्धि नहीं की, कुछ द्रव्य से व्यापार करने की आज्ञा दी। परन्तु सबसे बुद्धिमान बड़े पुत्र को, जिसने असली रकम के अलावा बड़ा नफा कमाया था, घर का सारा भार सौंपकर घर का मालिक बनाया।

ऊपर बताये हुए दृष्टान्त का उपनय यह है कि असली धन तो मनुष्य-जन्म है। इसमें जिसने अधिक कमाई की, उसे धर्ममार्ग में बढ़कर महान् समृद्धिशाली व देवगति अथवा सर्वोत्कृष्ट अक्षय स्थिति को क्रमशः प्राप्त करने वाला समझना चाहिए। जिसने मूलधन (मनुष्य भव) को यथावत् कायम रखा वह मरकर पुनः मनुष्य योनि में ही आया, कुछ बढ़ा-घटा नहीं, ऐसा स झना चाहिए किन्तु तीसरा तो असली रकम भी गवाँ बैठा, दिवालिया बन गया, इससे उसे मनुष्यगति रूपी उत्तम रत्न को हारकर कर्मवश नरक-तिर्यंच रूपी नीच

गति में जाना पड़ा, ऐसा समझना चाहिए।

संक्षेप में कहा जाय तो आत्मिक शक्ति का अभाव अथवा उसकी वृद्धि के प्रति उदासीनता मूलधन खोकर दरिद्र बनने के समान है। जिस सत्कृत्य से तीर्थंकर गोत्र भी बँधता है ऐसे प्रभावशाली सत्कृत्य का अनादर करने वाले लोक अपने बैठने की डाली को ही काटते हैं। इतना ही नहीं पर जिस महान् पुण्य के फल से यह श्रेष्ठ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, उसकी जड़ को दुराग्रह रूपी कुल्हाड़ी से काटने की प्रवृत्ति करते हैं।

प्रश्न 54 - श्री जिनपूजादि कार्य करना तो व्यवहार धर्म है। जो निश्चय को प्राप्त हो चुके हैं, उनके लिए ऐसे अधर्मकार्य की क्या आवश्यकता है?

उत्तर - जो व्यवहार धर्म को छोड़कर, केवल निश्चय धर्म की साधना करने जाते हैं, वे दोनों से चूकते हैं, क्योंकि श्री जिनमार्ग में शुद्ध व्यवहार को प्रधान पद दिया गया है, केवल निश्चय को नहीं। यह सिद्ध करने के लिए अनेक दृष्टान्त है। जैसे -

(1) श्री भरतराजा को केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद भी वेश बदलना पड़ा, तो क्या ऐसा किये बिना केवलज्ञान वापिस चला जाने वाला था? नहीं, पर व्यवहार बनाए रखने के लिए गृहस्थ का वेश उतारना पड़ा और मुनिवेश धारण करना पड़ा।

(2) साधु बरसते मेह में अपने स्थान पर आवे, परन्तु अकेली स्त्री वाले स्थान पर न रुके। मार्ग चलते समय दूसरा रास्ता न मिले तो साधु हरी दुब पर पैर रखकर चले, परन्तु स्त्री के स्पर्श से बचे क्योंकि यह लोक-व्यवहार से विरुद्ध है।

(3) केवली महाराज दिन और रात में समान रूप से देखते हैं, फिर भी व्यवहार बनाये रखने के लिये रात में विहार नहीं करते हैं।

(4) युगलिक भाई-बहन, पति-पत्नी बनने के बाद भग कर के मरकर देवलोक में जाते हैं, परन्तु ऐसा काम यदि आज कोई करे तो उसे व्यवहार मार्ग का उल्लंघन कहा जाता है तथा महा अनर्थकारी गिना जाता है। निश्चित रूप से जीवहिंसा तो समान ही है।

(5) श्री महावीर परमात्मा निश्चित रूप से जानते थे कि दोनों साधु मरेंगे पर व्यवहार-पालन के लिए उन्होंने बोलने से इन्कार किया।

(6) श्रावक निरन्तर आरम्भ-परिग्रह में बैठा हुआ है और अनेक जीवों को कष्ट पहुँचाता है। फिर भी चोरी की वस्तु लेना, उसके लिए योग्य नहीं। इसका कारण यही तो है कि लोकव्यवहार का लोप न हो।

(7) श्री वीरपरमात्मा जानते थे कि - 'मेरे रोग की स्थिति पक गई है, अतः अब वह मिट जायेगा' परन्तु व्यवहार के लिए तथा अन्य साधुओं को यह बतलाने के लिये कि औषधि-सेवन से लाभ होता है, प्रभु ने भी

औषधि ग्रहण की।

(8) श्री मल्लिनाथस्वामी अवेदी थे, परन्तु लोक-व्यवहार को मान्य रखने के लिए वे स्त्रियों के साथ ही बैठते।

(9) राग से बचने के लिए साधु को चातुर्मास के सिवाय अकारण एक स्थान पर एक महीने से अधिक नहीं रहना चाहिए परन्तु जो मोहराग बँधने का होता है तो रहनेमि की तरह एक घड़ी में भी बँध सकता है। फिर भी एक महीने से अधिक रहने पर ही व्यवहार का भंग गिना जाता है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार व्यवहारमार्ग-प्रधानता के अन्य भी सैकड़ों उदाहरण हैं।

श्रावक का शुद्ध व्यवहार रात्रिभोजन आदि का त्याग हैं। जो इस व्यवहार को तोड़ते हैं वे स्वयं भी अवश्य तत्काल नष्ट हो जाते हैं और जो शुद्ध व्यवहार को अंगीकार करते हैं, वे मोक्षफल प्राप्त करते हैं।

प्रश्न 55 – बारह वर्षीय दुष्काल पड़ने के समय सावद्याचार्यों ने उपदेश देकर मूर्तिपूजा करवाना प्रारम्भ किया है, उसके पहले तो कुछ था ही नहीं, ऐसा कई कहते हैं। क्या यह ठीक है?

उत्तर – श्री महावीर स्वामी की बीसवीं पट्ट-परम्परा में श्री स्कन्दिलाचार्य हुए और उनके समय में बारह वर्षीय दुष्काल पड़ा था। अब जो उनके बाद हुए आचार्यों ने मूर्तिपूजा चलाई हो तो श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तो भगवान महावीर की सत्ताईसवीं पट्ट-परम्परा में हुए हैं; अतः उनको भी सावद्याचार्यों में शामिल करना पड़ेगा और उस समय अन्य सैकड़ों आचार्यों ने एकत्र होकर करोड़ों ग्रन्थों की रचना की अतः उन तमाम ग्रन्थों को भी निरर्थक मानना पड़ेगा। और यदि ऐसा हो तो जैनधर्म रहेगा ही कहाँ?

एक मूर्ख व्यक्ति भी समझ सकता है कि दुष्काल वर्ष में नैवेद्यादि पूजा का खर्च बढ़ाने के उपदेश का प्रचार कैसे बढ़ सकता है? उस समय लोग खर्च घटाने के उपदेश को ही ग्रहण करते हैं। और मूर्ति के सामने रखा हुआ अन्न आदि साधु के काम नहीं आता, यह बात क्या उस समय लोग नहीं जानते थे? साधु अपने स्वार्थवश ऐसा उपदेश करे तो भी उस समय का समाज उसे कैसे चलने देगा? नैवेद्य पूजा आदि उस समय शुरू हुई तो मूर्ति तो पहले थी ही, यह तो सिद्ध हो गया।

साक्षात् सरस्वती आदि तथा अन्य देवी-देवता जो हर समय जिन महात्माओं की सेवा में उपस्थित रहते थे, ऐसे शासनप्रेमी धुरन्धर आचार्यों को स्वार्थी म। ग तथा आज-कल के निर्बुद्धि पुरुषों को निःस्वार्थी कहना कितना असंगत है? लाखों वर्षों से विद्यमान मूर्तियाँ तथा हजारों वर्ष पूर्व लिखित पुस्तकें अप्रामाणिक एवं आधुनिक मनघड़न्त कल्पनाएँ प्रामाणिक,

ऐसा तो कैसे मान सकते है?

श्री जिनप्रतिमा की पूजा-भक्ति, हाल में श्रद्धालु श्रावकवर्ग के द्वारा करने में आती है। उसके लिए तथा पूजा के समय श्री जिनेश्वरदेव की पिण्डस्थादि तीनों अवस्थाओं का आरोपण करने में आता है। उसके लिए सैकड़ों सूत्रों के आधार हैं, जिनमें से कितने ही सूत्रों के नाम मात्र नीचे दिये जाते हैं। इन सूत्रों तथा इनके रचनाकारों की प्रामाणिकता में किसी में दो मत नहीं हैं।

(1) **श्री तत्त्वार्थसूत्र** तथा अन्य पाँच सौ प्रकरण के रचयिता दस पूर्वधर वाचकशेखर **श्री उमास्वातिजी महाराज** द्वारा रचित पूजाप्रकरण।

(2) चौदह पूवधर तथा श्री वीरभगवान् के छठे पट्टधर **श्री भद्रबाहुस्वामी कृत आवश्यक निर्युक्ति।**

(3) दस पूर्वधर **श्री वज्रस्वामीकृत प्रतिष्ठाकल्प।**

(4) **श्री पादलिप्ताचार्य कृत प्रतिष्ठाकल्प।**

(5) **श्री बप्पभट्टसूरि कृत प्रतिष्ठाकल्प।**

(6) चौदह सौ चंवालीस ग्रन्थों के कर्ता **श्री हरिभद्रसूरिकृत पूजा पंचाशक।**

(7) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित **श्री षोडशक।**

(8) इन्ही महापुरुष द्वारा रचित **श्री ललितविस्तरा।**

(9) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित **श्री श्रावकप्रज्ञप्ति।**

(10) **श्री शालिभद्रसूरि कृत चैत्यवंदन भाष्य।**

(11) **श्री शांतिसूरि कृत चैत्यवन्दन बृहद् भाष्य।**

(12) **श्री देवेन्द्रसूरि कृत लघु चैत्यवन्दन भाष्य।**

(13) **श्री धर्मघोषसूरिजी कृत संघाचारवृत्ति।**

(14) **श्री संघदासगणि कृत व्यवहार भाष्य।**

(15) **श्री बृहत्कल्प भाष्य** और उसकी **श्री मलयगिरिसूरि कृत वृत्ति।**

(16) श्री महावीर प्रभु के हस्तदीक्षित शिष्य अवधिज्ञानी **श्री धर्मदासगणि क्षमाश्रमण कृत उपदेशमाला।**

(17) जिनके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों से वर्तमान विश्व भी चकित हो गया है, ऐसे कलिकालसर्वज्ञ बिरुद धारण करने वाले **श्री हेमचन्द्राचार्य कृत श्री योगशास्त्र।**

(18) उन्हीं द्वारा रचित **श्री त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र।**

(19) पूर्वधरविरचित **श्री प्रथमानुयोग।**

(20) पूर्व चिरंतनसूरि कृत **श्री श्राद्धदिनकृत्य सूत्र।**

(21) श्री वर्द्धमानसूरि कृत **श्री आचार दिनकर।**

(22) श्री रत्नशेखर सूरिकृत श्री श्राद्धविधि।

(23) श्री रत्नशेखर सूरिकृत श्री आचार प्रदीप।

(24) कक्कसूरिकृत श्री नवपद प्रकरण।

(25) श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत श्री विशेषावश्यक महाभाष्य।

(26) मल्लधारी श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित महाभाष्य वृत्ति।

(27) मल्लधारी श्री हेमचन्द्राचार्यकृत पुष्पमाला।

(28) श्री अभयदेवसूरिकृत पंचाशकवृत्ति।

(29) श्री ज्ञातासूत्र।

(30) श्री ठाणांग सूत्र।

(31) श्री रायपसेणी सूत्र।

(32) श्री जीवाभिगम सूत्र।

(33) श्री महाप्रत्याख्यान सूत्र।

(34) श्री महानिशीथ सूत्र।

(35) श्री देवसुन्दरसूरिकृत सामाचारी प्रकरण।

(36) श्री सोमसुन्दरसूरिकृत सामाचारी प्रकरण।

(37) श्री जिनपतिसूरिकृत सामाचारी प्रकरण।

(38) श्री अभयदेवसूरिकृत सामाचारी प्रकरण।

(39) श्री जिनप्रभसूरिकृत सामाचारी प्रकरण।

इस प्रकार सैकड़ों आचार्यों के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर मूर्तिपूजा की जाती है। अब इनमें से कौनसे आचार्यों को सावद्याचार्य कहा जाय? कदाचित् ऐसा कहा जाय कि - 'पूर्वधरों के समय में ज्ञान कण्ठस्थ था पर बाद में उसे पुस्तकारूढ़ करने में आया, अत: मानने में शंका रहती है' - परन्तु यह कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि उस समय में भी पुस्तकों के सर्वथा अभाव का उल्लेख कहीं नहीं है। क्या श्री ऋषभदेव स्वामी द्वारा चलाई गई लिपि का विच्छेद हो गया था? यदि हाँ! तो फिर लोगों के काम किस तरह चलते होंगे?

फिर दूसरा प्रमाण यह है कि श्री वीर प्रभु के 980 वर्ष पश्चात् श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणादि सैकड़ों आचार्यों ने मिलकर एक करोड़ से भी अधिक पुस्तकें बनाई। उस समय आचार्यों से परम्परागत प्राप्त ज्ञान अविच्छिन्न रूप से पुस्तकों में बराबर यथातथ्य उतारने में आया, उसमें से बहुत से ग्रन्थ, जो सैकड़ों वर्ष पूर्व के लिखे हुए हैं, ज्ञान-भंडारों में मौजूद हैं।

उस समय उन आचार्यों के कोई प्रतिपक्षी हुए हों तो उनकी तरफ से भी उस समय की लिखी पुस्तकें प्रमाण रूप में मौजूद होनी चाहिए, पर ऐसा लगता नहीं. तो फिर धर्म के

स्तम्भरूप पंडित पुरुषों और उनकी रचनाओं की अवज्ञा करने से महापाप के भागी बनने के सिवाय दूसरा क्या फल मिल सकता है?

प्रश्न 56 - कई लोग कहते हैं कि श्री वीर संवत् 670 में सांचोर गाँव में श्री महावीर स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई, उससे पहले मूर्ति थी ही कहाँ?

उत्तर - इस कथन का कोई प्रमाण नहीं। यदि ऐसा हो तो लाखों वर्ष पूर्व मूर्तिपूजा करने के पाठ, मूलसूत्रों में कहाँ से आये? आज भी हजारों तथा लाखों वर्ष के मन्दिर तथा मूर्तियाँ मौजूद हैं। उन मन्दिरों तथा मूर्तियों की प्राचीनता की अंग्रेज शोधकर्ता तथा अन्य दार्शनिक विद्वान भी साक्षी देते हैं।

प्राचीन मन्दिरों और मूर्तियों के लिए कितने ही शास्त्रीय उल्लेख -

(1) **श्री आवश्यक मूल** पाठ में 'वग्गुर' श्रावक द्वारा मल्लिनाथ स्वामीजी का मन्दिर पुरिमताल नगरी में बनवाने का उल्लेख हैं।

(2) **भरत चक्रवर्ती** के श्री अष्टापद पर्वत पर चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उनके वर्ण, लंछन तथा शरीर के कद अनुसार स्थापित करने का **श्री आवश्यक सूत्र** के मूल पाठ में कथन है।

(3) निजाम हैदराबाद के पास में कुल्पाक गाँव में भरत राजा के समय में भरवाई हुई श्री ऋषभनाथ स्वामी की मूर्ति, जो समय के प्रभाव से मन्दिर सहित जमीन में दब गई थी, कुछ समय पूर्व प्रगट हुई है। जमीन के अन्दर से मन्दिर निकला है। प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं। आँखों से देखकर ज्ञात कर लेना कि वह तीर्थ प्राचीन है अथवा अर्वाचीन? लोग इसे **माणिक्यस्वामी** की प्रतिमा भी कहते हैं और वह देवाधिष्ठित है।

(4) राधनपुर के पास में श्री शंखेस्वर गाँव में शंखेश्वर पार्श्वनाथजी की मूर्ति गत चौबीसी के श्री दामोदर नाम के तीर्थंकर के समय में बनी हुई, देवाधिष्ठित मौजूद है।

(5) बम्बई के पास अगासी गाँव में श्री मुनिसुव्रतस्वामी की प्रतिमा उनके समय में बनी हुई कहलाती है।

(6) श्रीपाल राजा तथा सौ कुष्ठ रोगियों का कोढ़ श्री ऋषभनाथजी की मूर्ति के स्नान-जल से दूर हुआ था। वह मूर्ति श्री धूलेवा नगर में श्री केसरियानाथजी के नाम से पहचानी जाती है, जिसे लाखों वर्ष हो गये।

(7) राजा रावण के समय में बनी हुई श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथजी की मूर्ति दक्षिण देश में आकोला के पास अंतरिक्षजी तीर्थ में विद्यमान है।

(8) इस चौबीसी के श्री नेमिनाथ भगवान के शासन के 2222 वर्ष पश्चात् गौड़ देशवासी आषाढ़ नाम के श्रावक ने तीन प्रतिमाएँ भरवाई। उनमें से एक खम्भात में श्री

स्तम्भन पार्श्वनाथ की, दूसरी पाटण शहर में तथा तीसरी पाटण के पास में चारूप गाँव में अब विद्यमान हैं। उस पर निम्नानुसार लेख है -

"नमोस्तीर्थकृते तीर्थे, वर्षद्विक चतुष्टये।
आषाढ़श्रावको गौड़ो कारयेत् प्रतिमा त्रयम् ॥"

इत्यादि, इस हिसाब से ये प्रतिमाएँ लगभग 5,86,744 वर्ष पुरानी हैं।

(9) मारवाड़ में नांदिया गाँव में श्री महावीर स्वामी मौजूद थे, तब उनकी मूर्ति स्थापित की हुई है, जिसको जीवितस्वामी कहते हैं।

(10) काठिवाड़ में श्री महुवा गाँव में श्री महावीर स्वामी विचरते थे, उस समय की भरवाई हुई उनकी प्रतिमा है।

(11) जोधपुर के पास ओसिया नगर में श्री वीर निर्वाण के 70 वर्ष पश्चात् स्थापित की हुई श्री महावीर भगवान की मूर्ति श्री रत्नप्रभसूरि द्वारा प्रतिष्ठित की हुई है, जिसे 2453 वर्ष हो गये। अन्य प्राचीन लेख भी वहाँ हैं।

(12) भरुच शहर में श्री मुनिसुव्रतस्वामी के समय की उनकी मूर्ति है, जिसे लाखों वर्ष हो गये।

(13) कच्छ प्रदेश में भद्रेश्वर तीर्थ का जो भव्य और अति प्राचीन जिनालय है उसका जीर्णोद्धार करते समय जब खुदाई का काम हुआ तो जमीन में से एक ताम्रपत्र मिला है, जिस पर प्राचीन समय का लेख है। उसमें लिखा है कि - 'यह मन्दिर वीर संवत् 23 में बनवाया हुआ है, जिसको आज ढाई हजार वर्ष हो गये हैं।'

(14) बीकानेर में श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथजी के मन्दिर में, चौबीस सौ तथा उससे भी अधिक वर्षों पुरानी सैकड़ों प्रतिमाएँ हैं।

(15) सर कनिंगहाम की स्वयं की **'आर्कियोलॉजिकल रिपोर्ट'** में मथुरा में प्राप्त हुई कितनी ही मूर्तियों के लेख प्रगट हुए हैं जिनकी नकलें श्री 'तत्त्व-निर्णय-प्रासाद' नाम के ग्रन्थ में छपी हुई है जिसे जिज्ञासु पढ़ सकते हैं।

(१६) सम्प्रति राजा द्वारा वीर संवत् 290 के बाद में बनवाई हुई लाखों मूर्तियों में से बहुत सी प्रतिमाएँ मारवाड़, गुजरात के अनेक गाँवों में मौजूद हैं।

पुनः इसके अतिरिक्त निम्नलिखित स्थलों पर अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

(17) श्री घोघा में श्री नवखंडा पार्श्वनाथ।

(18) श्री फलौदी में श्री फलवृद्धि पार्श्वनाथ।

(19) श्री भोयणी में श्री मल्लिनाथजी भगवान।

(20) श्री आबू के मन्दिरों में अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ हैं।

(21) श्री कुमारपाल राजा द्वारा बनवाया हुआ श्रीतारंगाजी तीर्थ का गगनचुम्बी

जिनालय और उसमें विराजमान श्री अजितनाथ स्वामी की विशालकाय भव्य मूर्ति।

(22) श्री वरकाणा में वरकाणा पार्श्वनाथ।

(23) श्री सिद्धाचलजी पर हजारों मन्दिर एवं बिम्ब।

(24) श्री गिरनारजी पर मन्दिर और सैकड़ों प्रतिमाएँ।

(25) श्री सम्मेतशिखरजी पर रहे अनेक जिनप्रासाद।

और भी अनेक श्री जिनमान्दर तथा मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर श्री जिनपूजा की प्राचीनता एवं शास्त्रीयता का जीवित प्रमाण देती हैं। यदि मूर्तिपूजा का निषेध होता, तो उपर्युक्त जिनमन्दिरों के पीछे करोड़ों रुपयों का खर्च कैसे होता? सूत्रों में किसी स्थान पर भी श्री जिनपूजा का निषेध नहीं है और स्थान स्थान पर श्री जिनपूजा की आज्ञा है।

''से किं तं उवासगदसाओ? उवासगदसासु णं उवासयाण णगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणखंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइय इड्ढियिसेसा।''

श्री ठाणांग सूत्र में श्रावक को, (1) जिनप्रतिमा, (2) जिनमंदिर (3) शास्त्र (4) साधु (5) साध्वी (6) श्रावक-श्राविका - इन सात क्षेत्रों में धन खर्च करने का हुक्म फरमाया है तथा अन्य सूत्रों में भी ये सात क्षेत्र श्रावक के लिए सेव्य बतलाये हैं। श्रावक आनन्द आदि बारह व्रतधारी, दृढ धर्मनिष्ठ श्रावक थे। **श्री उत्तराध्ययन** के 28 वें अध्ययनानुसार सम्यक्त्व के आठ आचारों का उन्होंने सेवन किया है। उसमें सात क्षेत्र भी आ जाते हैं क्योंकि आचारों में साधर्मिक वात्सल्य तथा प्रभावना ये दो आचार भी कहे हैं। साधर्मिक वात्सल्य में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका - ये चार क्षेत्र जानने तथा प्रभावना में श्री जिनबिंब, श्री जिनमन्दिर तथा शास्त्र - ये तीन गिने जाते हैं।

आनन्द, कामदेवादि श्रावकों के अतिरिक्त प्रदेशी राजा ने भी श्री जिनमन्दिर बनवाये हैं।

प्रश्न 56 - पहले असंख्य वर्षों की प्रतिमाएँ होने का कहा है परन्तु पुद्गल की स्थिति इतने वर्षों की न होने से किस प्रकार प्रतिमाएँ स्थिर रह सकती हैं?

उत्तर - **श्री भगवती सूत्र** में पुद्गल की जो स्थिति बताई है, वह सामान्य से स्वाभाविक स्थिति बताई है परन्तु जिसकी देव रक्षा करते हैं वे तो असंख्य वर्ष तक रह सकते हैं; जैसे **श्री जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र** में लिखा हैं कि -

''भरतचक्रवर्ती दिग्विजय कर ऋषभकूट पहाड़ पर पूर्व में हो चुके अनेक चक्रवर्तियों के नाम मिटाकर उन्होंने अपना नाम लिखा।''

अब सोचो कि ''भरत चक्रवर्ती के पहले अठारह कोड़ा-कोड़ी सागरोपम भरतक्षेत्र में

धर्म का विरह रहा है, तो इतने असंख्य काल तक मनुष्य लिखित नाम रहे या नहीं? अवश्य रहे। तो फिर शंखेश्वर पार्श्वनाथ आदि की मूर्तियाँ देवता की सहायता से रहें, इसमें क्या आश्चर्य हैं? ऋषभकूट आदि पहाड़ शाश्वत हैं, पर नाम तो बनावटी है। यदि नाम भी शाश्वत हों तो उनको कोई नहीं मिटा सकता।

फिर कोई कहता है कि - पृथ्वीकाय तो 22000 वर्ष से अधिक नहीं रहते तो क्या देवता आयुष्य बढ़ाने में समर्थ हैं? उसके उत्तर में कहना है कि - मूर्ति पृथ्वीकाय जीव नहीं है; निर्जीव वस्तु है। अनुपम देवभक्ति के द्वारा उसे असंख्य वर्षों तक भी रखा जा सकता है, क्योंकि जैन शास्त्रानुसार किसी भी पुद्गल द्रव्य का अनन्तकाल तक भी सर्वथा नाश नहीं होता। अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा सभी पुद्गल शाश्वत हैं; पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत हैं। जैसे पर्वत में से पत्थर का एक टुकड़ा लो तो उस टुकड़े का पर्याय बदलेगा पर पूर्णतया नष्ट तो किसी काल में भी नहीं होगा। उसी रीति से तमाम पुद्गलों को समझना चाहिए।

पुनः श्री जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति में अवसर्पिणी काल के पहले आरे का वर्णन करते हुए कहा है कि -

''घने जंगलों, वृक्षों, फूल-फलों से सुशोभित, सारस-हंस आदि जानवरों से भरपूर, ऐसी बावड़ियों तथा पुष्करिणी और दीर्घिकाओं से श्री जंबूद्वीप की शोभा हो रही है।''

सोचो कि पहले आरे में ये बावड़ियाँ आदि कहाँ से आई? इस भरतक्षेत्र में नौ कोड़ाकोड़ी सागरोपम से तो युगलिक रहते थे। युगलिक तो बावड़ियाँ आदि बनाते नहीं हैं, अतः यदि वे शाश्वत नहीं हैं, तो फिर उन्हें किसने बनाया?

जिस प्रकार से बावड़ियाँ असंख्य वर्षों से कायम रहीं तो फिर देवताओं की सहायता से मूर्तियाँ भी कायम कैसे न रहें?

प्रश्न 57 – चैत्य शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है?

उत्तर – श्री सुधर्मास्वामी के परम्परागत आचार्यों ने 'चैत्य' शब्द का जो अर्थ लिखा है वह भगवान महावीर द्वारा कथित है। परम उपकारी कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने अपने, 'अनेकार्थसंग्रह' में इस प्रकार अर्थ किया है।

'चैत्यं जिनौकस्तद्बिंबं, चैत्यो जिनसभातरु।'

अर्थ – चैत्य कहने से (1) जिनमन्दिर (2) जिनप्रतिमा (3) जिनराज की सभा का चौतराबंध वृक्ष।

इसके सिवाय दूसरा अर्थ शास्त्र में नहीं है तथा होता भी नहीं। अमरकोश अथवा अन्य कोई भी कोशग्रन्थ देखो, उनमें इसके सिवाय दूसरा अर्थ नहीं कहा है। अतः इसके सिवाय मनगढ़न्त अर्थ करने वालों को झूठा समझना चाहिये। सूत्रपाठों में जहाँ जहाँ उस शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वहाँ दूसरा अर्थ लागू हो ही नहीं सकता।

प्रश्न 58 - 'चैत्य' शब्द का अर्थ कितने ही 'साधु' अथवा 'ज्ञान' करते हैं। क्या यह उचित है?

उत्तर - 'चैत्य' का अर्थ 'साधु' या 'ज्ञान' किसी प्रकार नहीं हो सकता तथा शास्त्र के सम्बन्ध में वह अर्थ उपयुक्त भी नहीं। साधु की जगह तमाम सूत्रों में

''साहु वा साहुणी वा''

''भिक्खु वा भिक्खुणी वा''

ऐसा कहा है, पर -

''चैत्यं वा चैत्यानि वा।''

ऐसा तो कहीं भी नही कहा है तथा भगवान श्री महावीर स्वामी के चौदह हजार साधु थे, ऐसा कहा है, पर 'चौदह हजार चैत्य थे', ऐसा नहीं कहा। इस प्रकार अन्य सभी तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों आदि के 'इतने हजार साधु थे', ऐसा कहा है पर 'चैत्य थे' ऐसा शब्द किसी जगह नहीं है।

तथा चैत्य शब्द का अर्थ 'साधु' करें तो साध्वी के लिए नारी जाति में कौनसा शब्द उसमें से निकल सकेगा। कारण कि चैत्य शब्द स्त्रीलिंग में बोला नहीं जाता।

श्री भगवती सूत्र में (1) अरिहन्त, (2) साधु और (3) चैत्य ऐसे तीन शरण कहे हैं। वहाँ जो 'चैत्य' शब्द का अर्थ 'साधु' करें तो उसमें 'साधु' शब्द अलग से क्यों कहा? तथा ज्ञान कहें तो अरिहन्त शब्द से ज्ञान का संग्रह हो गया, क्योंकि ज्ञान रूपरहित है, वह ज्ञानी के सिवाय होता नहीं इसलिये चैत्य से जिनप्रतिमा का ही अर्थ निकलता है। ''अरिहन्त'' ऐसा अर्थ भी संभव नहीं क्योंकि - ''अरिहन्त'' भी प्रथम साक्षात् शब्द में कहा हुआ है।

'चैत्य' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' करना, यह भी सर्वथा असत्य है क्योंकि श्री **नंदीसूत्रादि** में जहाँ-जहाँ पाँच प्रकार के ज्ञान का अधिकार है वहाँ-वहाँ -

''नाणं पंचविंह पण्णत्तं।''

ऐसा कहा है पर -

''चेइयं पंचविंह पण्णत्तं।''

ऐसा तो कहीं नहीं लिखा। तथा उसका नाम मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान कहा है पर मतिचैत्य, श्रुतचैत्य अथवा केवलचैत्य इत्यादि किसी जगह नहीं लिखा तथा उस ज्ञान के स्वामी को मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, केवलज्ञानी इत्यादि शब्दों से परिचित करवाया है न कि मतिचैत्यी, श्रुतचैत्यी अथवा केवलचैत्यी शब्दों से। किसी को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ तो उसे 'जातिस्मरणज्ञान' हुआ, ऐसा कहा है पर 'जातिस्मरणचैत्य' उत्पन्न हुआ, ऐसा नहीं लिखा।

श्री भगवती सूत्र में जंघाचारण-विद्याचारण मुनियों के अधिकार में 'चेइयाइं' शब्द है तथा दूसरे बहुत से स्थानों पर वह शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसका अर्थ यदि ज्ञान करते हैं तो ज्ञान तो एकवचन में है जबकि 'चेइयाइं' बहुवचन में है। अतः वह अर्थ गलत हैं। पुनः श्री नंदीश्वरद्वीप में अरूपी ज्ञान का ध्यान करने के लिए जाने की क्या जरूरत है? अपने स्थान पर बैठे हुए वह ध्यान हो सकता है अतः वहाँ प्रतिमाओं से ही तात्पर्य है।

अब चैत्य का अर्थ साधु अथवा ज्ञान करने वाले भी कई जगह प्रतिमा का अर्थ करते हैं। उनके थोड़े से दृष्टान्त -

(1) **श्री प्रश्नव्याकरण** के आस्रव द्वार में चैत्य शब्द का अर्थ 'मूर्ति' किया है।

(2) **श्री उववाई सूत्रमें 'पुण्णभद्द चेइए होत्था।'** यहां चैत्य का अर्थ मन्दिर और मूर्ति कहा गया है।

(3) **श्री उववाई सूत्रमें 'बहवे अरिहन्त चेइयाइं।'** यहाँ भी मन्दिर और मूर्ति का अर्थ कहा गया है।

(4) **श्री भद्रबाहु स्वामीने श्री व्यवहार सूत्र** की चूलिका में द्रव्यलिंगी ''चैत्य स्थापना'' करने लग जायेंगे, वहाँ ''मूर्ति की स्थापना'' करने लग जायेंगे, ऐसा अर्थ किया गया है।

(5) **श्री ज्ञाता सूत्र, श्री उपासकदशांग सूत्र, श्री विपाक सूत्र में 'पुण्णभद्द चेइए।'** कहकर पूर्णभद्रयक्ष की मूर्ति व मन्दिर का अर्थ कहा गया है।

(६) **अंतगडदशांग सूत्र** में भी जहाँ यक्ष का चैत्य कहा गया है, वहाँ उसका भावार्थ मन्दिर या मूर्ति बताया है।

प्रश्न 59 - कौनसे सूत्र में तीर्थयात्रा का विधान है? और उससे क्या लाभ होता है?

उत्तर - तीर्थ दो प्रकार के है। (1) **जंगम तीर्थ** - यानी चतुर्विध संघ और (2) ***स्थावर तीर्थ*** *- यानी श्री शत्रुंजय, गिरनार, नन्दीश्वर,* अष्टापद, आबू, सम्मेतशिखर आदि - जिनकी यात्रा जंघाचारण मुनिवर भी करते हैं, ऐसा **श्री भगवतीजी सूत्र** में फरमाया है। श्री गौतमस्वामीजी भी अष्टापद पर गये थे।

कर्मशत्रु को जीतने वाला, ऐसा जो शत्रुंजय पर्वत है, वहाँ से अनन्त जीव मोक्ष गये हैं, ऐसा **श्री ज्ञाता सूत्र** में कहा गया है।

श्री आचारांग सूत्र में दूसरे श्रुतस्कन्ध में निम्नांकित तीर्थभूमि बताई है -

जम्माभिसेय-निक्खमण-चरण नाणुप्पायनिव्वाणे ।
दियलोअभयणमंदरनंदीसरभोमनयरेसु ।।1।।
अट्ठावयमुज्जिंतते गयग्गपयए य धम्मचक्के य ।

पासरहावत्तनगं चमरुप्पायं च वंदामि ॥2॥

''तीर्थंकरदेव के जन्माभिषेक की भूमि, दीक्षा लेने की भूमि, केवलज्ञान उत्पत्ति की भूमि, निर्वाण-भूमि, देवलोक के सिद्धायतन, भुवनपतियों के सिद्धायतन, नन्दीश्वर द्वीप के सिद्धायतन, ज्योतिषी देवविमानों के सिद्धायतन, अष्टापद, गिरनार, गजपद तीर्थ, धर्मचक्र तीर्थ, श्री पार्श्वनाथ स्वामी के सर्वतीर्थ, जहाँ श्री महावीर स्वामी काउसग्ग में रहे, वह तीर्थ, इन सबकी मैं वन्दना करता हूँ।''

श्री भद्रबाहुस्वामी श्री आवश्यकनिर्युक्ति में फरमाते है कि श्री तीर्थंकर देवों का जहाँ जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण निश्चित रूप से हुआ हो, उस भूमि के स्पर्श से सम्यक्त्व दृढ़ होता है।

श्री महावीर स्वामी के हस्तदीक्षित शिष्य, अवधिज्ञान को धारण करने वाले श्री **धर्मदास गणी श्री उपदेशमाला प्रकरण** में कहते हैं कि - श्रावक जिनराज के पाँचों कल्याणकों के स्थान पर यात्रा के लिये जावें। स्थावर तीर्थ की यात्रा से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

श्री महाकल्प सूत्र में तीर्थयात्रा के उत्तम फल का वर्णन है। यद्यपि अपने रहने के स्थान पर भी मन्दिर होते हैं, पर तीर्थयात्रा में उसकी अपेक्षा विशेष लाभ होता हैं क्योंकि घर पर तो व्यापार, रोजगार, सगे-सम्बन्धी आदि की चिन्ताएँ रुकावट डालती हैं। पूरा दिन उसी के संकल्प-विकल्प में रहने से धर्मध्यान में चित्त स्थिर नहीं रह सकता, परन्तु घर छोड़ने के पश्चात् ये सब उपद्रव दूर हो जाते हैं तथा साथ में अन्य साधर्मिक बन्धु होने से उनके साथ धार्मिक चर्चा से मन प्रफुल्लित होता है; शास्त्र का ज्ञान मिलता है; मार्ग में अनेक गाँव व शहर पड़ते हैं, जहाँ उत्तम साधुजनों तथा सुज्ञ श्रावकों का सम्पर्क मिलने से नवीन शिक्षा तथा बोध की प्राप्ति होती है।

तीर्थभूमि में ऐसे अनेक सज्जनों से मिलने का लाभ होता है तथा उनके समीप रहने से बहुत फायदा होता है। घर पर ऐसे महात्मा व उत्तम पुरुषों का समागम कदाचित् ही मिल पाता है और समयाभाव होने से उनसे विशेष लाभ भी नहीं लिया जा सकता।

तीर्थभूमि पर श्री तीर्थंकर, श्री गणधर तथा अन्य उत्तमोत्तम व्यक्तियों का निर्वाण हुआ है अतः वे याद आते हैं और उनका गुणानुवाद करने का उत्तम प्रसंग मिलता है। यह बुद्धि निर्मल होने का एक विशेष साधन है तथा पूज्य पुरुष जिस राह पर चलकर गुणवान हुए, उस राह पर चलने की हमारी भी इच्छा होती है। उस समय संसार असार सा लगता है तथा उससे विरक्त होकर मन आत्मचिन्तन करता है, परभाव में रमण करने की इच्छा नहीं होती। आत्मिक गुणों को प्रगट करने के अनेक साधन प्राप्त होने से उसमें

प्रयत्नशील बना जा सकता है।

जिस-जिस प्रकार से आत्मविशुद्धि हो सकती है, उन सब उपायों को जुटाने का बहुमूल्य अवसर मिलता है। कितने ही ध्यान-प्रिय लोग पहाड़ की गुफाओं में जाकर, एकान्त में बैठकर आत्मा तथा जड़ के विभाग तथा दोनों में रहने वाली भिन्नता का विचार करते हैं, धर्मध्यान में तल्लीन बनते हैं और शुक्लध्यानादि किया जा सके, उसके लिए अभ्यास करते हैं।

अधिक शुद्धि का दूसरा कारण भी यह है कि उत्तम मनुष्यों के शरीर के पुद्गल-परमाणु वहाँ फैले हुए हैं। वे सब उत्तम होते हैं। जब भी क्षपक श्रेणी करने की इच्छा हो तब वज्रऋषभनाराच संघयण की परम आवश्यकता है। उसके बिना उत्तम ध्यान हो ही नहीं सकता। इससे पुद्गल की सहायता भी आवश्यक है।

जिन व्यक्तियों की मुक्ति निकट में होती है, ऐसे उत्तम पुरुषों के शरीर में ध्यान को पुष्ट करने वाले पुद्गल एकत्र हो चुके होते हैं। अब वे तो निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं, परन्तु उनके वे पुद्गल उनकी निर्वाणभूमि में बिखरे हुए होते हैं। वहाँ अधिकतर अच्छे पुद्गलों का ही समूह होता है और वे अपने में प्रवेश कर जाते हैं। यद्यपि बहुत समय बीत गया है, फिर भी वे सभी पुद्गल नष्ट नहीं होते।

ऐसे पवित्र स्थान पर पुण्यवान स्त्री-पुरुषों के ऐसे निर्मल पुद्गलों के स्पर्श से बुद्धि कितनी निर्मल होती होगी, इसका अनुमान अनुभव बिना नहीं लगाया जा सकता। हो सकता है, दुर्भागी मनुष्य को वहाँ अच्छे के बदले खराब पुद्गलों का स्पर्श हो जाय, तो यह उनके कर्म का ही दोष है। मुख्य रूप से तो वहाँ उत्तम पुद्गलों का ही सद्भाव है। इस प्रकार घर की अपेक्षा तीर्थयात्रा में कई गुणा लाभ प्राप्त होता है और धर्मध्यान निर्विघ्न एवं सुगम बन जाता है।

प्रश्न 60 - भगवान की पूजा, पूजक को हितकारी है फिर भी चिन्तामणि रत्न की तरह उसका फल तुरन्त क्यों प्राप्त नहीं होता?

उत्तर - इस विषय में दीर्घदृष्टि से विचार करने की जरूरत है। प्रत्येक वस्तु को जिस काल में फलने का होता है, वह उस काल में फलती है। कहावत है कि - 'जल्दबाजी से आम नहीं पकते।' जैसे कि खेत में बीज बोने के बाद उसका समय पूर्ण होने पर ही अनाज पकता है, पहले नहीं।

गर्भस्थिति प्रायः नौ महीने बीतने के बाद ही प्रसूति होती है। वनस्पति, फल, फूल भी एकदम नहीं पकते। चक्रवर्ती राजा, इन्द्रदेवता प्रमुख की, की हुई सेवा तत्काल नहीं, पर समय आने पर ही फल देती है। मंत्र-जाप भी कोई हजार जाप से तो कोई लाख व कोई करोड़ जाप से सिद्ध होता है। रोगनिवारण के लिये की हुई दवा भी स्थिति पकने पर असर

करती है। पारा सिद्ध करने में बहुत समय लगता है। इस प्रकार सभी कार्य अपनी-अपनी अवधि पूरी होने पर ही फल देते हैं।

इसी प्रकार इस भव में भावसहित की हुई द्रव्यपूजा का महान् पुण्य भवान्तर में भोगा जा सकता है तथा सामान्य पूजा का सामान्य पुण्य तो कदाचित् इस जन्म में भी भोगा जा सकता है। उत्तम फल देने वाले कार्यों में ज्ञानी पुरुषों को जल्दबाजी या चिन्तातुर नहीं होना चाहिए। चिन्तामणि रत्न आदि से मिलने वाला फल, पूजा के फल की तुलना में किसी गिनती में नहीं। वह तो तुच्छ फल देने वाला है तथा वह परभव में नहीं पर इस मनुष्य भव में ही जो अधिकतर अल्प समय के लिए होता है, उसी में फल देता है। परन्तु पूजा से उपार्जित पुण्य का फल बहुत बड़ा होने से अधिक समय में भोगने योग्य होता है। वह दीर्घकालीन देवताओं के आयुष्य में ही हो सकता है। इसलिये वह महान् पुण्य, जीव को दूसरे जन्म में उत्पन्न होने के बाद ही उदय में आता है।

यदि इस भव में ही वह प्राप्त हो जाय तो मनुष्य की आयु सामान्य रूप से अल्प होने से तथा मनुष्यशरीर रोगी एवं शीघ्र नाशवान् होने से उसे भोगते हुए मृत्यु हो जाने से वह पुण्य रूपी डोरी बीच में ही टूट जाती है तथा उस बीच मौत रूपी महादु:ख भोगना पड़ता है जिसकी तुलना में अन्य कोई दु:ख विशेष भयंकर नहीं। ऐसे बड़े पुण्य का फल भोगते हुए बीच में मृत्यु का आ जाना कितना बड़ा अनिष्ट गिना जाता है? जरा सोचो कि -

किसी गाँव की तुच्छ झोंपड़ी में रहने वाला गरीब मनुष्य, परदेश जाकर करोड़ों रुपये कमा कर घर लौट आया। वह क्या इस छोटी झोंपड़ी में अपनी अपार दौलत का भोग कर सकेगा? कभी नहीं। उस धन का भोग करने के लिए भव्य महल - हवेली उस स्थान पर बनवानी पड़ेगी। ऐसा करने में उस पुरानी झोंपड़ी का अवश्य नाश करना ही पड़ेगा।

झोंपड़ी की तरह तुच्छ मनुष्य का यह शरीर है और करोड़ों की दौलत रुपी उस पूजा का महापुण्य है। जैसे झोंपड़ी में बैठे-बैठे वह पुरुष अपार धन का भोग नहीं कर सकता, वैसे ही इस क्षणभंगुर रोगी, मानव-देह में रहा हुआ जीव महापुण्य का फल नहीं भोग सकता। वह पुरुष जैसे झोंपड़ी छोड़ कर आलिशान महल बनाकर वैभव की सामग्री जुटाता है, वैसे ही जीव भी अपने अल्पकालीन झोंपडी-रूप शरीर को छोड़कर महल रूपी देव आदि के उत्तम शरीर को प्राप्त कर उसके द्वारा पुण्य का स्वाद दीर्घकाल तक भोगता है।

जैसे बड़े परिश्रम से प्राप्त मूल्यवान वस्तु लम्बे समय तक भोगते रहने पर भी नष्ट नहीं होती, वैसे श्री जिनपूजादि शुभ कार्यों से उपार्जित पुण्य भी अधिक समय तक भोगते रहने पर भी समाप्त नहीं होता। अत: किसी भी समय कोई उत्कृष्ट भाव आ जाय और पूजा से महापुण्य बँध जाय तो उसी अनुक्रम से उच्च गति में पहुँच जायेंगे, यावत् श्री तीर्थंकर गोत्र का भी बँध जिन-पूजा से होता है।

प्रश्न 61 - सूर्याभ देवता ने श्री महावीर भगवान के पास नाटक करने को कहा, तब प्रभु मौन क्यों रहे? यह सावद्य कार्य था इसलिये न?

उत्तर - उस समय सूर्याभदेव ने क्या कहा, उस विषय में श्री रायपसेणी सूत्र के नीचे के पाठ पर ध्यान दो।

''अहण्णं भंते! देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वयंगोयमाईणं समणाणं निग्गंथाणं बत्तीसइबद्धं नट्टविहिं उवदंसेमि।''

''हे भगवन्! मैं आपके सामने भक्तिपूर्वक गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों को बत्तीस प्रकार का नाटक बताऊंगा।''

सूत्रकार तो ''भक्ति-पूर्वक'' लिखते हैं, फिर भी उसको मन से - कल्पित रूप से सावद्य कह देना कितना अनुपयुक्त है? साथ ही सूर्याभ ने प्रश्न के रूप में नहीं पूछा, बल्कि अपनी इच्छा प्रगट की है। ऐसी बातचीत में जवाब देने की जरूरत मना करते समय ही रहती है; स्वीकार करते समय नहीं। अगर सवाल के रूप में पूछा होता तो सूर्याभ जैसा महाविवेकी भगवान् के जवाब के बिना कार्य का आरम्भ नहीं करता। जैसे कोई नौकर किसी कार्य के लिए आज्ञा पाने हेतु अपने स्वामी से प्रश्न करे, फिर भी आज्ञा के रूप में जवाब प्राप्त किये बिना वह नौकर यदि कार्य शुरू कर दे तो वह महा अविवेकी और आज्ञा का उल्लंघन करने वाला ही गिना जायेगा। परम सम्यक्त्ववान् सूर्याभ को ऐसा कैसे माना जा सकता है? भक्ति की इच्छा प्रगट करने के वाक्य में मौन रहने से, आज्ञा ही समझी जाती है और मना करना हो तभी बोलने की आवश्यकता रहती है।

जैसे श्रावक गुरु के पास आकर इच्छा व्यक्त करता है कि - 'हे गुरुजी! मैं आपकी भक्तिपूर्वक वन्दना करूँ।' अब यदि गुरु कहते हैं कि - ''हाँ, करो।'' तो इससे स्वयं के मुख से ही स्वयं को वन्दन करने का कहने से गुरु मानलोभी कहलाता है और यदि 'ना' कहे तो गुरुवन्दन का कार्य सावद्य कहा जाकर उसका निषेध हो जाता है। इस प्रकार - ''सरोते के बीच सुपारी'' जैसी दशा हो जाती है। तब इस कार्य को निरवद्य जानकर गुरु के लिए चुप रहने के सिवाय कोई रास्ता नहीं।

जैसे कोई कसाई यदि गुरु के पास आकर एक जीव को उसकी भक्ति के रूप से मारने का कहे तो गुरु क्या जवाब देगा? यदि चुप रहे तो कसाई समझेगा कि - ''साधु की इस कार्य में अनुमति होने से मुझे नहीं रोकते'' और फलस्वरूप वह मारने लग जाएगा। पर यदि साधु ऐसा कहे कि, ''यह काम सावद्य होने से इसमें भक्ति नहीं है'' तभी वह मारने से रुकेगा।

आजकल के अल्पज्ञानी साधु भी सावद्य-निरवद्य तथा भक्ति-अभक्ति के हेतु को जानकर योग्य वर्तन करते हैं, तो फिर जगद्गुरु सर्वज्ञ भगवान अथवा गौतमस्वामी महाराज

आदि नाटक-पूजा को सावद्य समझते तो क्या उसका निषेध नहीं करते?

''भक्तिपूर्वक'' शब्द शास्त्रकारों ने काम में लिया है इससे सूर्याभदेव की भक्ति प्रधान है और भक्तिका फल श्री उत्तराध्ययन सूत्र के 29 वें अध्ययन में मोक्ष तक का कहा है। क्षायिक सम्यक्त्वी, एकावतारी, तीन ज्ञान के स्वामी सूर्याभदेव क्या देव-गुरु भक्ति की विधि को नहीं जानते होंगे। साथ ही भगवान तथा दूसरे सूत्रकारों ने भी इस कार्य में भक्ति का समावेश किया है और इसी कारण उसका निषेध नहीं किया।

अगर मौन रहने का अर्थ निषेध ही करें तो **श्री भगवती सूत्र के** 11 **वें शतक** में कहा है कि- श्री वीरप्रभु के मुख से बहुत से श्रावकों ने ऋषिभद्र की प्रशंसा सुनकर उनको वन्दन किया, अपराधों की क्षमा मांगी तथा बारहवें शतक में भी ऐसा उल्लेख है कि भगवान के मुख से शंखजी श्रावक की प्रशंसा सुनकर श्रावकों ने उनकी खूब वन्दना की तथा बहुत से श्रावकों ने उनसे क्षमायाचना की। इन दोनों प्रसंगों पर भगवान चुप रहे। यदि भगवान के मौन के कारण इन कार्यों को उनकी आज्ञा के विरुद्ध कहोगे तो यह बात कोई नहीं स्वीकारेगा। क्योंकि - ''भगवान ने सब कुछ जानते हुए भी श्रावको की प्रशंसा क्यों की तथा वन्दन करते हुए श्रावकों को क्यों नहीं रोका? ऐसा प्रश्न खड़ा होगा।

श्री जीवाभिगम, श्री भगवतीजी तथा **श्रीठाणांगसूत्र** में देवतागण श्री नन्दीश्वर द्वीप में अट्ठाई महोत्सव, नाटक इत्यादि करते हैं, उनको आराधक कहा है, न कि विराधक।

श्री रायपसेणी सूत्र में भी सूर्याभदेव के सेवकों ने समवसरण के विषय में भगवान से कहा, तब भगवान ने उनकी प्रशंसा की है। **श्री ज्ञातासूत्र** आदि में कहा है कि श्री पार्श्वनाथजी की अनेक साध्वियाँ चारित्रविरोधी, तपस्विनियाँ बनी और अज्ञान तपस्या के प्रभाव से श्री महावीर परमात्मा के सम्मुख उन्होंने कई प्रकार के नाटक किये जिसका फल गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान ने फरमाया कि -

''इस नाटक की भक्ति करके उन्होंने एकावतारीपने को प्राप्त किया है।''

कितने ही कहते है कि - मृगापृच्छा में भी साधु यदि मौन धारण करे तो वहाँ क्या अर्थ समझना? मृगापृच्छा में साधु को मौन रहने का कहीं भी नहीं कहा है। **श्री आचारांग सूत्र** के दूसरे श्रुतस्कन्ध में कहा है कि -

''जाणं वा नो जाणं वदेज्जा''

अर्थात् - साधु जानता हो तो भी कहे कि - मैं नहीं जानता हूँ, अथवा मैंने नहीं देखा, ऐसा ही कहे।

श्री भगवती सूत्र के आठवें शतक के पहले उद्देश में लिखा है कि -

''सच्चमणप्पओगपरिणया. .. मोसवयप्पओगपरिणया''

अर्थात् - मृगापृच्छादि में मन में तो सत्य है और वचन में मिथ्या है।

श्री सूयगडांग सूत्र के आठवें अध्ययन में भगवान फरमाते हैं कि -

''सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ''

मृगापृच्छादि बिना असत्य न बोले, यह संयमियों का धर्म है। अर्थात् उस समय असत्य भाषा बोले, ऐसी प्रभु की आज्ञा है।

प्रश्न 62 - ज्ञान की महत्ता विशेष है या क्रिया की?

उत्तर - ज्ञान के बिना सत्य-असत्य का पता नहीं चलता। ज्ञान के बिना जगत् का स्वरूप समझ में नहीं आता। ज्ञान के अभाव में देव, गुरु और धर्म के लक्षणों की पहिचान नहीं होती। ज्ञान के बिना धर्मक्रियायें अंधक्रियाओं की भाँति अल्प फल देने वाली होती हैं। शुद्ध ज्ञान रहित क्रिया तो केवल अज्ञान कष्ट है। उससे उच्चगति प्राप्त नहीं की जा सकती क्योंकि जमाली, गोशालक आदि ने क्रिया पूरी पाली. उनके समान दया कौन पाल सकता था? फिर भी भगवान की आज्ञाविरुद्ध प्रवृत्ति होने से वे संसार का क्षय नहीं कर सके।

जो एकान्त क्रिया से बड़ा स्वांग रचकर, गुरु बनकर संसार को ठगते हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि जमाली आदि के सामने उनकी क्रिया किस अनुपात में है? मिथ्यात्व रूप से की हुई क्रिया के द्वारा देवगति आदि के सुख भले ही मिलें, पर उससे संसार-भ्रमणता कम नहीं होती. जंगल में रहने वाले, हाथ में ही भोजन करने वाले, महान् कष्टों को सहन करने वाले, नग्न घूमने वाले, व्रतधारी और तपस्वी मिथ्यात्वी ऋषि-मुनियों के बराबर का वर्तमान में कोई लक्षांश भाग भी क्रिया पालन करते हुए दिखाई नहीं देता, तो केवल क्रिया पक्ष वालों को तो ऐसे ही गुरु को धारण करना चाहिए।

शास्त्रकार कहते हैं कि ''करोड़ों वर्षों तक पंचाग्नि तप-जप करके अज्ञानी क्रियावादी, आत्मा की जो शुद्धि नहीं कर सकता, उतनी आत्मशुद्धि ज्ञानी मनुष्य एक श्वासोच्छ्वास मात्र में करता हैं।''

श्री भगवती सूत्र में फरमाया है कि-''क्रिया से भ्रष्ट हुआ ज्ञानी, आंशिक विराधक है और सर्व से आराधक है; जबकि ज्ञान से भ्रष्ट क्रिया करने वाला आंशिक आराधक है, पर सर्वत: विराधक है।''

इसलिए कहा है कि -

''पढमं नाणं तओ दया''

अर्थात् - दया की अपेक्षा ज्ञान प्रथम श्रेणी में है।

''हिंसा में पाप है'' - ऐसा प्रथम ज्ञान होने से ही हिंसा के कार्य से दूर रहा जायेगा, अन्यथा नहीं। अत: शुद्ध ज्ञानपूर्वक की हुई क्रिया ही संसार से पार उतारने में समर्थ है, ऐसा समझकर सम्यग्ज्ञान का उपार्जन करने के लिए उद्यम करना चाहिए।

परन्तु .यह ध्यान में रखना कि ज्ञान, दया-पालन के लिए है, दया को एक ओर रखने के लिए नहीं। दया अथवा दया को लाने वाली क्रिया, इसकी ही यदि कीमत नहीं करें, तो इसके लिए प्राप्त ज्ञान की भी कीमत कुछ नहीं है। दुनिया में जीने की कीमत है, इसलिए खाने की कीमत है। यदि जीने की कीमत न होती तो इसे बनाये रखने के लिए खाने की भी कभी कोई कीमत नहीं हो सकती।

इसी प्रकार दया की कीमत है और इसीलिए दया को लाने वाले ज्ञान की कीमत है। तप की कीमत है इसीलिए तप की महिमा समझाने वाले ज्ञान की कीमत है। श्री जिनपूजा कीमती है इसीलिए श्री जिन और उनकी पूजा का प्रभाव समझाने वाले ज्ञान की कीमत है। इससे विपरीत समझाने वाले ज्ञान की कीमत, जैनशासन में फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं है।

मोक्ष हेतु क्रिया के प्रति भाव पैदा करने वाले ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान माना है। मोक्ष जितना महान् है, उसकी प्राप्ति के उपायों को समझाने वाला ज्ञान भी उतना ही महान् है। जो ज्ञान मोक्ष एवं मोक्षमार्ग से विमुख करे, भववृद्धि के मार्ग पर ले जाये, तप, संयम तथा जिनपूजादि सद्अनुष्ठानों से आत्मा को वंचित रखे, उस ज्ञान को शास्त्रकारों ने मिथ्याज्ञान की उपमा देकर घृणा योग्य बताया है।

संसार जितना घृणित है, उतना ही संसारवृद्धि के मार्ग पर ले जाने वाला ज्ञान भी घृणित है। ऐसे मिथ्याज्ञान को प्राप्त करने की अपेक्षा अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी रहना हजारगुना अच्छा है। सम्यग्ज्ञानी की छत्रछाया में रहने वाले अज्ञानी या अल्पज्ञानी का मोक्ष होता हैं, परन्तु मिथ्याज्ञानी की सिद्धि शास्त्रकारों ने कहीं नहीं बताई है।

सम्यग्ज्ञान जीव को जिनपूजादि शुभ कार्यों में लगाता है, इसलिए उस ज्ञान की वृद्धि हेतु तनतोड़ प्रयास करना सम्यग्दृष्टि आत्माओं का परम कर्तव्य है।

प्रश्न 63 - द्रौपदी ने पूर्व भव में गलत कार्य किए थे, अतः उसकी पूजा कैसे मान्य की जाय?

उत्तर - गत जन्म में किये गये कुकर्मों के अनुसार वर्तमान जन्म का मूल्यांकन किया जाय, तब तो अनेक महापुरुषों ने भी अपने पूर्व भवों में अनेक गलत कार्य किये हैं, अतः आपके नियमानुसार तो वे भी पूज्य नहीं गिने जायेंगे। वर्तमान गुरु आदि भी वन्दनीय नहीं रहेंगे, क्योंकि उन्होंने भी पूर्व जन्म में अनेक ऐसे कार्य किए हैं, जिसके फलस्वरुप उन्हें भी संसार-चक्र में भ्रमण करना पड़ा है और उन्हें कायक्लेश आदि महान् व्यथाएँ सहन करनी पड़ी हैं। यदि उन्होंने एक मात्र शुभ ही कार्य किये होते तो उनका स्थान मुक्ति में ही होता।

पूर्व जन्म का विचार तो एक ओर रहने दें, इस जीवन में भी उन्होंने गृहस्थ जीवन में

आजीविका आदि के अनेक पाप किये होंगे, अत: सबसे पहले वे ही अवन्दनीय बन जाएंगे। कर्म के प्रभाव से आत्मा को अनेक विडम्बनाएँ सहन करनी पड़ती हैं, अत: भवचक्र में पूर्व में किए गए अनुचित कार्यों के आधार पर इस जीवन का एकान्तत: मूल्यांकन नहीं हो सकता है।

प्रश्न 64 - पाँच पति करने वाली द्रौपदी को श्राविका कैसे कह सकते हैं?

उत्तर - तीर्थंकर, वासुदेव, चक्रवर्ती तथा अन्य राजा महाराजा व श्रेष्ठियों के हजारों रानियाँ व स्त्रियाँ होते हुए भी शास्त्रकारों ने उन स्वदारा सन्तोषीजनों को परम सम्यग्दृष्टि श्रावक गिना है और अनेक तो उसी भव में मोक्ष में भी गए हैं। इस न्याय से द्रौपदी के द्वारा पूर्वकृत निदान के फलस्वरूप जनसाक्षी में अनासक्त भाव से पाँच पुरुषों के साथ विवाह किया गया था। इस कारण उसके शीलव्रत को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँच सकती है, क्योंकि शास्त्रकारों ने उसे महासती कहा है। निदान के फलस्वरूप द्रौपदी का दृष्टान्त एक अपवाद रूप होने से अन्य स्त्रियाँ उसका अनुसरण नहीं कर सकती हैं।

प्रश्न 65 - विवाह के प्रसंग में योग्य वर की प्राप्ति के लिए द्रौपदी ने कामदेव की पूजा की है, जिनप्रतिमा की नहीं, क्या यह बात बराबर है?

उत्तर - सोचने की बात यह है कि महान् ऋद्धिमान, निर्मल सम्यक्त्व के स्वामी और एकावतारी सूर्याभदेव के द्वारा की गई जिनप्रतिमा की पूजाविधि का निर्देश द्रौपदी की पूजा के अधिकार में किया गया है। इससे सूर्याभदेव सम्यग्दृष्टि है, उसी प्रकार द्रौपदी भी सम्यग्दृष्टि ही सिद्ध होती है तथा सूर्याभदेव ने जिस प्रकार श्री जिनमूर्ति की सत्रह भेद से पूजा की है, उसी प्रकार से द्रौपदी की पूजा भी सत्रह प्रकार की है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंक सम्यग्दृष्टि की और मिथ्यादृष्टि की देव-पूजाविधि तथा भावना में बड़ा अन्तर है। सलाह सूचन वाले दोनों व्यक्ति समानधर्म का पालन करने वाले हों, तभी सलाह दी जा सकती है, अन्यथा नहीं।

द्रौपदी ने कामदेव आदि जैसे मिथ्यात्वीदेव की पूजा की होती तो उसकी तुलना भी मिथ्यात्वी पुरुष की पूजा से की जाती, परन्तु यहाँ तो सूर्याभदेव जैसे दृढ़ सम्यक्त्वधारी देव के साथ तुलना की गई है तो फिर द्रौपदी को भी समकितधारी श्राविका कहने में क्या आपत्ति है?

योग्य वर की प्राप्ति के लिए द्रौपदी ने पूजा की होती तो उसकी स्तुति भी इस प्रकार होनी चाहिए - 'हे कामदेव! यदि आपकी सेवा से खूबसूरत और गुणवान वर मिलेगा तो मैं अमुक कीमत की मिठाई आपको चढाऊंगी।'

. . . परन्तु द्रौपदी ने उपर्युक्त प्रार्थना तो नहीं की है, बल्कि उसने 'नमुत्थुणं

अरिहन्ताणं भगवंताणं' अर्थात् 'अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार हो' - इस प्रकार अरिहन्त परमात्मा का नाम लेकर ही स्तुति की है, फिर भी कामदेव का झूठा नाम देना योग्य नहीं है।

'नमुत्थुणं-सूत्र' में भी उसने कौनसी मांग की है?

'तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं, सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं' - अर्थात् ''हे परमात्मा! आप तर चुके हो और मुझे तारो। आप केवलज्ञान प्राप्त कर चुके हो और मुझे भी प्राप्त कराओ। आप कर्म से मुक्त बने हुए हो और मुझे भी कर्म से मुक्त करो।''

उपर्युक्त प्रार्थना के द्वारा उसने मोक्षफल की ही याचना की है। क्या अरिहन्त को छोड़कर कोई मिथ्यात्वीदेव मोक्ष देने में समर्थ है? अथवा अनुपम गुणयुक्त अन्य कोई देव है, जिसकी इस प्रकार से स्तुति हो सकती है?

अन्त में उसने कहा है - **'सिद्धिगइनाम-धेयं ठाणं संपत्ताणं'** - सिद्धिगति नामक स्थान को जिन्होंने प्राप्त किया है। . . . तो सोचे श्री अरिहन्त (सिद्ध) को छोड़कर अन्य कौनसे देव सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त हो चुके हैं?

इस सूत्र में 'सुयोग्य पति की याचना' का कोई शब्द ही नहीं है। फिर भी सम्यग्दृष्टि श्राविका के लिए अयोग्य कल्पना करना, क्या उचित है?

प्रश्न 66 - 'नमोत्थुणं' का पाठ अन्य देवों के पास नहीं कह सकते हैं तो फिर अम्बड़ श्रमणोपासक के सात सौ शिष्यों ने अपने गुरु के सामने यह पाठ क्यों कहा?

उत्तर - 'नमोत्थुणं' में वर्णित गुण अरिहन्त सिवाय अन्य किसी देव में नहीं हो सकते हैं। इस कारण शास्त्र में कहीं भी अन्य देव के सामने कहे हुए का उल्लेख नहीं है।

अम्बड़ संन्यासी श्रावक के सात सौ शिष्यों ने **'नमोत्थुणं'** सूत्र जिस प्रकार कहा था, उसका उल्लेख **'श्री उववाई सूत्र'** में निम्नानुसार है -

'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जावसंपत्ताणं,
णमोत्थुणं समणस्स, भगवओ महावीरस्स,
जाव संपाविउकामस्स, नमोत्थुणं अंबडस्स,
परियायगस्स अम्ह धम्मायरियस्य धमोवएसगस्स'

अर्थ - (वे 700 शिष्य हाथ जोड़कर इस प्रकार कहते हैं।) 'नमस्कार हो अरिहन्तों को, यावत् मोक्ष प्राप्त करने वालों को, नमस्कार हो श्रमण भगवान महावीर परमात्मा को, यावत् मुक्ति पाने की इच्छा वालों को! नमस्कार हो अम्बड़ परिव्राजक को, हमारे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक को।

पाठक समझ सकेंगे कि ऊपर के प्रथम दो नमस्कारों में तो 'नमोत्थुणं' का पाठ मोक्षगति तक का कहा और पिछले नमस्कार में अपने गुरु को वन्दन किया है, उन्हें अरिहन्त भगवान नहीं कहा है। तथा उसके स्थान पर अरिहन्त के गुणों के वर्णन वाला **'शक्रस्तव' 'नमोत्थुणं'** नहीं कहा है। मात्र **'नमोत्थुणं'** नमस्कार हो। इतना एक पद आने मात्र से क्या सम्पूर्ण **'शक्रस्तव'** पाठ आ गया? नहीं फिर भी ऐसा कहने वाले तो मृषावाद पाप का ही आचरण कर रहे हैं।

प्रश्न 67 - 'द्रौपदी ने तो केवल एक ही बार पूजा की है, इसका उल्लेख है और वह भी मिथ्यादृष्टि अवस्था में। क्योंकि निदान (नियाण) पूर्ण हुए बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर - जिस सूत्र में द्रौपदी के नित्य कर्म का उल्लेख हो, उसी सूत्र में उसके नित्य पूजन का उल्लेख हो सकता है। सर्वत्र तो कहाँ से हो? क्या एक ही एक बात शास्त्रकार बारम्बार लिखते रहेंगे?

विवाह के समय सैकड़ों राजपुत्र आए हुए थे, उस समय की धमाल के बीच भी द्रौपदी अपने नित्यकर्म-पूजा को भूली नहीं है और उसने अत्यन्त ही विनयपूर्वक शुभ भाव युक्त होकर शक्रस्तव से परमात्मा की भक्ति की है, क्या वह अन्य शान्ति के समय परमात्मा की पूजा नहीं करती होगी?

सूत्रपाठ से ही स्पष्ट पता चलता है कि वह नित्य पूजा करने वाली है। सम्भव है पद्मोत्तर राजा के वहाँ पराधीन अवस्था में रहने के कारण व जिनमन्दिर आदि की सामग्री का अभाव होने से उसने पूजा नहीं की हो, फिर भी वहाँ रहते हुए भी छट्ठ, अट्ठम आदि तपश्चर्या स्वाधीन होने से, उसने की ही है।

जिन-पूजा की बात का तो एक बार उल्लेख भी हुआ है, परन्तु भोजन-पान-शयन आदि का तो एक बार भी उल्लेख नहीं हुआ है, तो क्या वह वे कृत्य नहीं करती होंगी?

तुंगिया नगरी के श्रावकों ने साधुओं को एक बार वन्दन किया था इस बात का उल्लेख है तो क्या उन्होंने दूसरी बार वन्दन नहीं किया होगा?

पूजा करते समय द्रौपदी को सम्यक्त्व था, यह बात आगे सिद्ध कर चुके हैं। निदान की पूर्णाहुति के पहले सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है - यह बात करना सर्वथा प्रमाण रहित है।

श्री दशाश्रुतस्कन्ध में नौ प्रकार के निदान कहे गए हैं, उनमें 7 प्रकार के निदान तो कामभोग के हैं। वे यदि अत्यन्त तीव्र रस से बाँधे हों तो सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है और मन्दरस से बाँधे हों तो सरलता से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

जैसे - 'कृष्ण का वासुदेव पद प्राप्ति का निदान मन्द रस वाला होने से वे सम्यक्त्व

को प्राप्त कर सके हैं।

यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि 'कृष्ण को वासुदेव की पदवी मिलते ही उनका निदान पूरा होने से उन्हें सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है और द्रौपदी को पाँच पति की प्राप्ति होते ही उसका निदान पूरा हुआ है' - तो यह कहना भी उचित नहीं है।

निदान समस्त भव आश्रित होने से उसका फल जिन्दगी पर्यन्त भुगतना पड़ता है। निदान वाली वस्तु की प्राप्ति होने के साथ ही यदि निदान पूरा हो जाता हो, तो फिर उस वस्तु का तुरन्त वियोग अथवा नाश होना चाहिए, परन्तु वैसा तो बनता नहीं है। कृष्ण वासुदेव ने तो जिन्दगी पर्यन्त वासुदेव की पदवी का भोग किया है और द्रौपदी भी अपने पाँच पतियों की हाजरी में ही देवलोक में गई है।

श्री दशाश्रुतस्कन्ध में नौवाँ निदान दीक्षा का है. . . तो फिर दीक्षा लेने के साथ ही वह निदान पूरा हो जाना चाहिए, परन्तु शास्त्रकारों ने तो निदान वाले को उसी भव में मोक्ष में जाने का निषेध बतलाया है।

कोई तापस् अपनी तपस्या के प्रभाव से आगामी भव में राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति का निदान करता है तो वह तापस किसी राजा के वहाँ पुत्र के रूप में जन्म प्राप्त कर, योग्य वय में राजगद्दी पर बैठने के साथ ही उसका निदान पूरा हो जाने से वह दरिद्र बनेगा या राज्य का जीवन-पर्यन्त भोग करेगा?

तात्पर्य यही है कि मन्दरस के निदान वाले को सम्यक्त्वप्राप्ति में कोई बाधा नहीं आती है। परन्तु उत्कृष्ट रस वाले निदान वालों को तो वीतराग का धर्म सुनने का भी अवसर नहीं मिलता है, जब कि द्रौपदी ने तो पीछे से संयम स्वीकार किया है।

जिस प्रकार कृष्ण महाराजा सम्यग्दृष्टि श्रावक थे, उसी प्रकार द्रौपदी भी सम्यग्दृष्टि श्राविका थी तथा जीवन पर्यन्त वह सम्यक्त्व में दृढ़ रही थी। श्री ज्ञाता सूत्र में भी लिखा है

''जब द्रौपदी के पास नारद मुनि आए तब उन्हें असंयत, अविरत और अपच्चक्खाण वाले जानकर उसने सम्मान नहीं दिया, खड़ी होकर उसने नमस्कार भी नहीं किया।''

उसी सूत्र में आगे कहा है - ''पद्मोत्तर राजा के अन्तःपुर में रहकर भी वह हमेशा छट्ठ, अट्ठम आदि तपस्या तथा आत्मा की भावना करती थी।''

इस प्रकार की प्रवृत्ति शुद्ध श्राविका हुए बिना कैसे सम्भव है?

श्री भगवती सूत्र में जघन्य से एकव्रत को भी स्वीकार करने वाले को श्रावक कहा है। तथा उस सूत्र में पच्चक्खाण को उत्तर गुण में लिखा गया है। श्री **'दशाश्रुत स्कन्ध'** में **'दंसण सावए'** कहकर सम्यक्त्वधारी जीव को भी श्रावक गिना है तथा **'प्रश्न व्याकरण'** सूत्र की वृत्ति में द्रौपदी को परम श्राविका कहा है।

कहीं भी ऐसा नहीं कहा गया है कि 'विवाह के पूर्व तो द्रौपदी मिथ्यादृष्टि थी और उसके बाद सम्यग्दृष्टि हो गई' - इससे सिद्ध होता है कि वह बाल्यकाल से ही दृढ़ श्राविका और सम्यक्त्वधारी थी तथा निदान से उसके धर्मकार्य में कोई बाधा नहीं पहुँची है।

प्रश्न 68 - स्त्री के द्वारा की गई पूजा का प्रमाण रूप कैसे मान सकते है?

उत्तर - यदि इस मान्यता का स्वीकार करेंगे तब तो चारित्र का पालन करने वाली साध्वी स्त्री के भी सम्यक्त्व सम्बन्धी आचरण को मान्य नहीं कर सकेंगे। स्त्री द्वारा गृहीत संयम भी निरर्थक हो जाएगा और ऐसी मान्यता से तो चतुर्विध संघ का एक स्तम्भ ही कमजोर हो जाएगा।

शास्त्र में लिखा है - 'अनेक स्त्रियाँ उत्तम प्रकार के धर्म की आराधना कर मोक्ष में गई हैं।' मरुदेवी माता इस अवसर्पिणी में सर्वप्रथम सिद्ध हुई है। **श्री मल्लिनाथ स्वामी** स्त्री रूप में तीर्थंकर हुए हैं। चन्दनबाला ने महावीर प्रभु का अभिग्रह पूर्ण किया था। इत्यादि अनेक प्रशंसनीय कार्य इस काल चक्र में स्त्रियों ने किए हैं।

पुरुषों को तो पूजा की सामग्री मिलना सुलभ है परन्तु स्त्रियों को दुर्लभ होने पर भी द्रौपदी ने पूजा की है। इसी कारण उसके शुभ कार्य की शास्त्रकर्ताओं ने विस्तार से प्रशंसा की है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि पुरुषों को तो पूजा का कार्य अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न 69 - द्रौपदी की पूजा के लिए सूर्याभदेव की पूजा का सूचन किया, तब किसी श्रावक की पूजा का सूचन क्यों नहीं किया?

उत्तर - शास्त्रकार महर्षि श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने श्री रायपसेणी सूत्र में सूर्याभदेव के अधिकार में श्री जिनप्रतिमा की पूजा का सविस्तर वर्णन किया है, उसका निर्देश अन्य स्थान में किया है। क्योंकि एक ही बात का उल्लेख बारम्बार करने में आए तब तो शास्त्र का प्रमाण अत्यधिक बढ़ जाता है। उस भय से शास्त्रकार महर्षि एक-दूसरे सूत्र का निर्देश कर देते हैं। श्री महावीर परमात्मा तथा गणधर भगवन्तों ने तो हर स्थान पर सम्पूर्ण वर्णन किया था, परन्तु शास्त्रकार सूत्र को संक्षिप्त करने की इच्छा से एक-दूसरे सूत्रों का निर्देश कर देते हैं।

दूसरा कारण यह है कि कई लोग 'शाश्वती जिनप्रतिमाओं की देवता पूजा करते हैं', यह बात तो स्वीकार करते हैं, किन्तु अशाश्वती मूर्ति मानने का निषेध करते हैं। उनके अन्तर्चक्षु खोलने के लिए ही सूर्याभदेव की उपमा दी गई है। जैसे - **श्री रायपसेणी सूत्र** के कथनानुसार देवतागण निरन्तर शाश्वती मूर्तियों की पूजा कर अपना हित तथा कल्याण साधते हैं और अनुक्रम से मोक्ष की साधना करते है। उसी प्रकार श्रावक और श्राविकाएँ भी यहाँ रहकर श्रीजिन प्रतिमा के पूजन से उनके (देवताओं) समान आत्म कल्याण साधकर संसार-

समुद्र का पार पा सकते हैं।

शास्त्रकारों का यह भी अभिप्राय है कि - शाश्वती और अशाश्वती दोनों प्रकार की मूर्तियों के पूजन से एक समान फल प्राप्त होता है।

शाश्वती प्रतिमा का आदर करने के बाद अशाश्वती प्रतिमा का अनादर करना, महामूर्खता का ही काम है। दोनों प्रकार की प्रतिमाएँ एक समान सम्माननीय हैं। क्योंकि वे दोनों एक ही देव की हैं, अलग-अलग देव की नहीं हैं कि जिससे एक का बहुमान और दूसरे का अबहुमान हो जाय।

एक कारण यह भी है कि देवताओं की शक्ति अचिन्त्य होने से वे जितने भाव से पूजा करते हैं, उतने भाव से प्राय: मनुष्य न कर सके, फिर भी द्रौपदी मनुष्य और उसमें भी स्त्री होने पर भी उसने महान् सूर्याभदेव के समान बड़े आडम्बर के साथ जिनपूजा की है तथा सूर्याभदेव जैसे निश्चय सम्यग्दृष्टि है उसी प्रकार द्रौपदी भी परम श्राविका है। यह बात बताने का भी शास्त्रकारों का उद्देश्य है।

जिस विधि से शाश्वती प्रतिमाएँ पूजी जाती हैं, उसी विधि से अशाश्वती प्रतिमाएँ पूजने से भी, अपने-अपने भाव के अनुसार समान फल प्राप्त कर सकते है, यह बात भी फलित हो जाती है।

अन्य किसी श्रावक की उपमा न देने का कारण यह भी है कि आनन्द आदि श्रावकों के वर्णन में शास्त्रकारों ने पूजाविधि में सूर्याभदेव के अधिकार की तरह सम्पूर्ण विवेचन नहीं किया है, अत: दूसरों का निर्देश कैसे हो सकता है? जिस स्थान में विशेष जानकारी दी हो, उस स्थान का नाम ही दिया जाता है।

प्रश्न 70 - श्री भगवती सूत्र में कहा है - 'यदि कोई साधु नन्दीश्वर द्वीप जाय और वापस भरतक्षेत्र में आकर 'इरियावहिय' प्रतिक्रमण किए बिना कालधर्म पा जाय तो जिनाज्ञाविराधक बनता है और आलोचन करने के बाद काल करे तो आराधक कहलाता है।'' तथा श्री समवायांगसूत्र में भी कहा है कि ''जंघाचारण और विद्याचारण मुनि 17000 योजन से कुछ अधिक सीधे आकाश में उड़कर फिर तिरछी गति करते हैं'' - इस प्रकार मुनियों के गमनागमन को सिद्ध करने वाले बहुत से पाठ हैं। परन्तु नन्दीश्वर द्वीप की यात्रा के लिए जाते समय जो आलोचना आती है तो फिर उस यात्रा से क्या प्रयोजन है?

उत्तर - वहाँ जो आलोचना है वह तो प्रमादगति की है। लब्धि का उपयोग करने से मुनियों को प्रमादगति होती है, उसकी यह आलोचना है परन्तु चैत्यवन्दन आदि की आलोचना नहीं है। तीर के वेग के समान चारण मुनियों की गति का उतावला स्वभाव होने

से मार्ग में शाश्वत-अशाश्वत जिनमन्दिर रह जाते हैं, उसका मन में खेद उत्पन्न होता है। वह भी प्रमादगति है। इसलिए उसकी आलोचना आती है।

श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि साधु गोचरी लाकर गुरु के पास सम्यक् प्रकार से आलोचना करे - वह आलोचना गोचरी की नहीं, परन्तु उसमें प्रमाद के कारण आने-जाने से उपयोग नहीं रहने से कोई दोष लगा हो, उसकी आलोचना की जाती है। साधु को जाते-आते, प्रतिक्रमण अथवा अन्य कोई क्रिया करते आलोचना के रूप में **'इरियावहिय'** प्रतिक्रमण करने का है। वह प्रमाद को लेकर है न कि शुभ क्रियाओं को लेकर।

प्रश्न 71 - जंघाचारण तथा विद्याचारण मुनि श्री नन्दीश्वर द्वीप में 'चेइयाइं' शब्द से ज्ञान का आराधन करते हैं, किन्तु प्रतिमा को वन्दन नहीं करते हैं। क्या यह बात बराबर है?

उत्तर - **श्री ठाणांग** तथा **श्री जीवाभिगम सूत्र** में नन्दीश्वर आदि द्वीपों में शाश्वती प्रतिमाएँ होने का कथन विस्तारपूर्वक है। जम्बूद्वीप पण्णत्ति सूत्र में मानुषोत्तर पर्वत के 13 कूटों के नाम गिनाकर प्रत्येक कूट पर तथा देवताओं से समस्त भवनों में सिद्धायतन (जिनमन्दिर) को बताने वाले पाठ हैं। उनकी वन्दना करने के लिए लब्धिवन्त मुनि जाते हैं। ऐसा प्रायः सर्व जैन मानते हैं। फिर भी 'चेइयाइं' शब्द का अर्थ मनःकल्पित 'ज्ञान' कर उत्सूत्र प्ररूपणा करना महादोषयुक्त कार्य ही है 'चैत्य' शब्द का ज्ञान अर्थ किसी भी व्याकरण को सम्मत नहीं है। ज्ञान तो अरूपी वस्तु होने से उसका ध्यान तो घर बैठे भी हो सकता है। इसके लिए श्री नन्दीश्वर द्वीप जाने का क्या कार्य है? तथा ज्ञान तो एकवचन में है और **'चेइयाइं'** शब्द बहुवचन में है - इससे भी उसका अर्थ **'प्रतिमा'** को छोड़कर अन्य नहीं हो सकता है।

प्रश्न 72 - देवताओं को श्री भगवती सूत्र में 'नो धम्मिआ' कहा गया है। उनके द्वारा की गई मूर्तिपूजा कैसे प्रामाणिक मानी जाय?

उत्तर - उस स्थान में तो चारित्र की उपेक्षा से **'नो धम्मिआ'** कहा गया है। जैसे **श्री भगवती सूत्र** में देवताओं को **'बाल'** कहा गया है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्षमार्ग में से देवताओं को सम्यग्ज्ञान और दर्शन होता है परन्तु चारित्र की प्राप्ति नहीं होने से उन्हें **'नो संयति'** भी कहा गया है। **श्री ठाणांग सूत्र** में सम्यक्त्व को संवर धर्म कहा है। जिनप्रतिमा का पूजन सम्यक्त्व का आचारण है, उस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि देवों को चारित्र की अपेक्षा **'बाल' 'नो संयति'** और **'नो धम्मिआ'** कहा है, किन्तु सम्यग्दर्शन या ज्ञान की अपेक्षा से नहीं।

श्री भगवती सूत्र के पाँचवें शतक के चौथे उद्देश्य में कहा है कि -

'देवाणं भंते। असंजताति वत्तव्वं सिया? गोयमा! णो तिणट्ठे,

णिट्ठरवयणमेयं। देयाणं भंते? संजयासंजयाति यत्तव्वं सिया?

गोयमा! णो तिणट्ठे समट्ठे, असब्भूयमेयं देयाणं, से किं खाति णं भंते! देयाति यत्तव्वं सिया? गोयमा! देयाणं नो संजयाति यत्तव्वं सिया।"

इससे सिद्ध होता है कि देवताओं को असंयती नहीं कह सकते हैं और ऐसा कोई बोले तो वह महानिष्ठुर वचन कहलाता है। देवताओं को संयति कहे तो अभ्याख्यान लगता है और देवों को संयतासंयति कहें तो असद्भूतवचन कहलाता है अतः देवताओं को 'नो संयति' कहना ही जिनेश्वरदेवों की आज्ञा है।

'नो संयति' का अर्थ अधर्मी करोगे तो प्रश्न खड़ा होगा देवताओं को असंयति (अधर्मी) कहने का निषेध क्यों किया?

'नो धम्मिआ' और 'नो संयति' का अर्थ 'धर्मी नहीं' 'संयति नही' ऐसा करेंगे तो आज्ञाभंग के दोष के बावजूद दूसरे भी दोष आ जाएंगे।

सूत्रों में स्थान-स्थान पर 'नो कषाय', 'नो इन्द्रिय', 'नो सन्ना', 'नो आगम' इत्यादि शब्द आते हैं, उनका अर्थ अकषाय, अनिन्द्रिय अनागम इत्यादि करोगे तो शास्त्र विरुद्ध अर्थ हो जाएंगे। ऐसे स्थान पर 'नो' का अर्थ सर्व निषेध नहीं किन्तु देश निषेध करना चाहिए। इसी न्याय से 'नो संयत' आदि पदों का अर्थ अधर्मी अथवा असंयति न कर ईषद्धर्मी, ईषद्संयमी आदि करना चाहिए।

श्री आचारांग, श्री दशाश्रुतस्कन्ध तथा **श्री ज्ञातासूत्र** में भी कहा है कि लोकान्तिकदेव अनन्त काल से ही.स्वयंबुद्ध तीर्थंकर परमात्मा को दीक्षाकाल का स्मरण कराते हुए कहते हैं - 'हे भगवन्! जगत् की हितकर तीर्थ प्रवर्ताओ।' ऐसे विवेकी देवताओं को कौन अधर्मी कह सकेगा?

श्री दशवैकालिक सूत्र में देवताओं को मनुष्य की अपेक्षा महाविवेकी और बुद्धिमान् कहा है।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ।।

अर्थ - जिसका मन धर्म के विषय में सदा प्रवर्तमान है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं (तो फिर मनुष्य करें, उसमें क्या आश्चर्य है!)

श्री ठाणांग सूत्र में देवतागण किस प्रकार शुद्ध भावना कर, अपनी आत्मा की निन्दा करते हैं और अपने पूर्व जन्म के गुरु का कितना अधिक सम्मान करते हैं, वह नीचे के पाठ से ख्याल में आ जाएगा -

'अहुणोयवन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए अगिद्धे, अगढिए अणज्झोयवन्ने, तस्स णं एवं भवइ अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे

आयरितेति वा उवज्झाएति वा पवत्तीति वा थेरेति वा गणीति वा गणधरेति वा गणावच्छेएति वा जेसिं पभावेणं मए इता एतारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती लद्धा पत्ता अभिसन्नागया, तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि।'

अर्थ - देवलोक में नवीन उत्पन्न देव दिव्य कामभोग में मूर्च्छित नहीं होता है। कामभोगों को अनित्य जानकर अतिगृद्ध - अति आसक्त नहीं बनता है। वह मन में सोचता है कि ''मेरे मनुष्य भव के धर्मोपदेष्टा आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणि, गच्छ के स्वामी तथा जिनके प्रभाव से इस प्रत्यक्ष देव ऋद्धि, दिव्य कान्ति, दिव्य प्रभाव को मैं प्राप्त कर सका हूँ, अत: मैं वहाँ जाकर उपकारी भगवन्त को वन्दन करूँगा, नमस्कार करूंगा, सत्कार व सम्मान करूंगा, कल्याणकारी - मंगलकारी देव चैत्य अर्थात् जिन प्रतिमा की सेवा करूंगा।'

और भी कहा है -

'एसणं माणुस्सए भवे णाणीति वा तवस्सी ति वा अइदुक्कर-दुक्करकारते, तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि जाव पज्जुवासामि।' - **(ठाणांग सूत्र)**

भावार्थ - (देवता ऐसा विचार करते है कि) मनुष्य भव में बड़े-बड़े ज्ञानी महात्मा हैं, तपस्वी हैं, अति उत्कृष्ट आचरण करने वाले हैं, सिंहगुफा के पास, सर्प बिल के पास कायोत्सर्ग करने वाले हैं, दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं, अत: मैं जाकर ऐसे भगवान को वन्दन करूँ, नमस्कार करूँ और उनकी सेवा भक्ति करूँ।

पुन: वे पश्चाताप करते हैं कि -

''अहो! दस दृष्टान्त से दुर्लभ ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर पूर्वभव में गुरु भगवन्त के योग से तप संयम का स्वीकार करने पर भी मैंने प्रमाद का त्याग नहीं किया। तप-संयम का सुन्दर रीति से पालन नहीं किया, आलस्य से गुरु तथा साधर्मिक की वैयावच्च बराबर नहीं की, सिद्धान्त का अध्ययन नहीं किया, चारित्र की मर्यादाओं का दीर्घकाल तक बराबर पालन नहीं किया, अब ऐसे संयोग मुझे पुन: कब प्राप्त होंगे? और कब मैं हृदय में शुभ ध्यान करूंगा? मोक्षपद को मैं कब प्राप्त करूंगा।' जिससे गर्भावास में आने का मेरा सदा काल के लिए छूट जाय।''

श्री ठाणांग सूत्र के कथनानुसार अनेक प्रकार से शुभ भावनाओं में लीन रहने वाले तथा जिनेश्वर की आज्ञा का पालन करने वाले देवताओं को अधर्मी कैसे कहा जाए?

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें अध्ययन में देवगति का लाभ मनुष्य को कहा गया है और आचार्य भगवान् कहते हैं कि -

'हम भी उसकी उसी प्रकार से श्रद्धा करते हैं।'

'धीरस्सयस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।

चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥1॥

भावार्थ - इस मनुष्य भव में वीतराग प्रणीत तप-संयम की साधना कर देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए।

यदि उन देवों को अधर्मी कहेंगे तो क्या जिनराज द्वारा कथित तप और संयम की उन्होंने अधर्मी बनने के लिए साधना की थी, वर्तमान में साधना कर रहे हैं और भविष्य में साधना करेंगे? यदि सर्व देवों को असंयति ही गिनेंगे तो तप-संयम की साधना से वीतराग धर्म को खो देने की ही प्रवृत्ति होगी और मिथ्यात्व की ही प्राप्ति होगी, इससे तो तप-संयम की क्रिया ही दुर्गति का कारण बन जाएगी।

वर्तमान में इस क्षेत्र में मोक्ष तो है नहीं, तो फिर अच्छे-अच्छे क्रियापालन और तप-संयम का आचरण करने वाले देवगति में जाकर मिथ्यात्व में गिर जाएंगे? अतः सर्व देवताओं को अधर्मी कहना भयंकर मूर्खता ही है।

सम्यग्दृष्टि देवों ने तो कई साधुओं और श्रावकों को उपदेश देकर जैनधर्म में स्थिर किया है और उन्हें दुर्गति में जाने से रोका है। इसके लिए निम्नांकित शास्त्रीय प्रमाण है -

श्री निरयावली सूत्र में कहा है कि 'महामिथ्यात्वी सोमिल तापस रात्रि में ध्यान लगा कर, नेतर जैसे कोमल काष्ठ की मुखमुद्रा बनाकर, मुख में डालकर और दोनों किनारों को कान में डालकर, उत्तर दिशा में मुख करके बैठा है।

वहाँ एक देव ने आकर कहा - 'हे सोमिल! यह तेरी प्रवज्या दुःप्रवज्या है। अतः जिनेश्वर कथित सुप्रवज्या को स्वीकार कर।'

परन्तु सोमिल ने उस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार देव पाँच दिन तक कहता रहा कि "हे सोमिल! यह तेरी दीक्षा झूठी है यह तेरा कष्ट अज्ञान कष्ट है अतः बारबार विचार कर।" इस प्रकार बारबार इन हितवचनों को सुनकर सोमिल ने शुद्ध जैनधर्म को मान्य किया। मिथ्यात्व के दुष्कृत की आलोचना की और शुद्ध तप-जप व संयम का आराधन कर अन्त में महाशुक्र देवविमान में उत्पन्न हुआ। वह आगामी भव में मोक्ष में जाएगा। उसने श्री महावीर परमात्मा के सामने नाटक भी किया था।

श्री उपासकदशांग में लिखा है - 'गोशालक मत के उपासक सद्दालपुत्र को देवता ने महावीर स्वामी के पास जाने का उपदेश देकर धर्म में दृढ़ किया था।'

जरा सोचें, वह देव सम्यग्दृष्टि नहीं होता तो श्री महावीर प्रभु के पास क्यों भेजता?

श्री ज्ञातासूत्र में कहा है - 'महामोहान्ध तेतलीपुत्र मंत्री को पोटिल नामक देव ने बहुत से उपाय करके धर्मबोध दिया। जिससे उसने जैन दीक्षा स्वीकार की और उसके बाद

केवलज्ञान प्राप्त किया।'

धर्म के प्रति गाढ़ प्रीति वाले देवों के हृदयकमल में सम्यक्त्व जीवन्त हो, तभी उपर्युक्त प्रवृत्ति सम्भव है। मिथ्यात्वी देवों को इस प्रकार की धार्मिक अभिलाषा सम्भव नहीं है।

इतना जानने पर भी यदि कोई देवताओं के आचरण को अधर्म रूप मानेंगे तो यह केवल अज्ञानता ही है। एक देव तीर्थंकर, साधु व श्रावक पर उपद्रव करता है और दूसरा भक्तिपूर्वक उसका निवारण करता है तो उन देवों को एक समान फल मिलेगा या भिन्न-भिन्न? आपके मतानुसार तो एक समान फल मिलना चाहिए - परन्तु वैसा कभी नहीं बन सकता है। यदि कोई शिष्य देव रूप में उत्पन्न होकर अपने पूर्व के गुरु को चारित्र से पतित जानकर प्रतिबोध करे तो उस देव को धर्मी गिनेंगे या अधर्मी?

प्रश्न 73 - चौथे गुणस्थानक में रहे हुए देवताओं द्वारा की गई मूर्तिपूजा को पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानक में रहे हुए मनुष्य कैसे मान्य कर सकते हैं? देव तो अपना जीत-आचार समझकर पूजा करते हैं, उसमें पुण्य कैसे हो सकता है?

उत्तर - चौथे गुणस्थानक में जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उस गुणस्थानक से चौदहवें गुणस्थानक तक जीवों की धर्मश्रद्धा एक समान होती है। उस श्रद्धा में थोड़ा भी फर्क नहीं होता है। यद्यपि उनकी निर्मलता में अन्तर हो सकता है, परन्तु उस अन्तर की यहाँ बात नहीं है।

चौथे गुणस्थानक में अमुक देव आदि तत्त्वों के विषय में श्रद्धा और आगे के गुणस्थानकों में उन तत्त्वों के विषय में श्रद्धाभेद होता हो, ऐसी बात नहीं है। उस-उस स्थिति में रहे हुए जीव अन्य (मिथ्या) देव-गुरु का चारों निक्षेप से त्याग करते हैं तथा अरिहन्तादि के चारों निक्षेपों को मान्य करते हैं - इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

चौथे गुणस्थानक में रहे जीव को व्रत-पच्चक्खाण नहीं होते है तथा पाँचवें गुणस्थानक वाले जीव को होते हैं - यह अन्तर जरूर है, परन्तु सम्यक्त्व तो दोनों को होता है।

भगवान ने सम्यग्दृष्टि अनेक देवों को मोक्षगामी और एकावतारी कहा है। यदि वे अधर्मी हो तो उन्हें मोक्ष की प्राप्ति इतनी शीघ्र कैसे सम्भव है?

तप-संयम की आराधना से पूर्वोपार्जित निकाचित पुण्य को भोगे बिना छुटकारा नहीं है तथा देव-भव में चारित्र का उदय नहीं होने से उस भव में मोक्ष सम्भव नहीं है, इसलिए उन्हें मनुष्य गति में अवश्य आना पड़ता है - परन्तु इससे देवता अधर्मी नहीं बन जाते हैं।

श्री उपासकदशाश्रुतस्कन्ध में कहा है - गोशालक के भक्त मिथ्यात्वी देव ने कुण्डकोलिक श्रावक को जैनधर्म से भ्रष्ट करने के लिए बहुत से उपाय किए थे। कुण्डकोलिक

ने अनेक युक्तियों से उस देव को समझाने का प्रयास किया, परन्तु उसने अपनी हठ नहीं छोड़ी। अत: सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में काफी अन्तर सिद्ध होता है।

चौबीस तीर्थंकर गृहस्थावस्था में चौथे गुणस्थानक में होते हैं। उन्हें धर्मी कहें या अधर्मी?

श्री महावीर परमात्मा, अपने माता-पिता के स्वर्गवास के बाद भी कुछ समय तक गृहस्थ जीवन में रहे। सर्व ममता से रहित और रागद्वेष से विरक्त बने हुए थे फिर भी उनका गुणस्थानक चौथा ही था। भरत चक्रवर्ती गृहस्थपने में चौथे गुणस्थानक पर थे, फिर भी वे आगे केवली हो गए अत: देवताओं को चौथे गुणस्थानक में रहने के कारण ही अधर्मी कहेंगे - तब तो ऊपर के सब महात्मा भी अधर्मी सिद्ध हो जाएंगे।

शुद्ध भाव से ही मुक्ति है। वह भाव, ज्ञान-दर्शन और चारित्र से पैदा होता है और ज्ञान-दर्शन की शुद्धि के लिए मूर्तिपूजा का विधान है। इस कारण देवताकृत जिनपूजा भी धर्म ही गिनी जाएगी - अधर्म नहीं।

देवता के शुभ आचार-पालन को जीत-आचार में गिनकर भी उत्थापित नहीं कर सकते हैं।

प्रथम तो **जीत-आचार** किसे कहते हैं? यह समझना चाहिए।

जीत अर्थात् अवश्य करने योग्य। अवश्य करने योग्य कार्य को जीताचार कहते हैं। जैसे - श्रावक को जीत व्यवहार से रात्रि-भोजन का त्याग, अभक्ष्य-अनन्तकाय का त्याग, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं का पालन करना चाहिए।

इससे पुण्यबन्ध होगा या नहीं?

यदि आप कहेंगे कि पुण्यबन्ध होगा तो फिर देवता जीताचार से मूर्तिपूजा करें तो उससे पुण्यबन्ध होगा या नहीं?

जिस समय सूर्याभदेव आभियोगिक देवताओं के साथ में श्री महावीर प्रभु के पास आकर वन्दनपूर्वक समवसरण की रचना कर, भक्ति करने की इच्छा व्यक्त करता है, उस समय वीरप्रभु ने कहा था -

"पोराणमेयं देवा०, जीयमेयं देवा० कीयमेयं देवा०, करणिज्जमेयं देवा० आचीन्नमेयं देवा० अब्भणुन्नायमेयं देवा० ।"

भावार्थ - चिरकाल से देवताओं ने यह कार्य किया है। हे देवानुप्रिय! तुम्हारा यह आचार है, तुम्हारा यह कर्तव्य है, तुम्हारे लिए करणीय है, तुम्हारे लिए आदरणीय है। मैंने तथा अन्य समस्त तीर्थंकरों ने इसकी अनुज्ञा प्रदान की है। **(श्री रायपसेणी सूत्र)**

साक्षात् श्री तीर्थंकरदेव भी जिसके आचरण की इस प्रकार प्रशंसा करते हैं और

करने के लिए अनुमति देते हैं, उसे निरर्थक या पापप्रवृत्ति कहने के लिए कौन समर्थ है?

भगवान के पाँचों कल्याणकों में देवता बड़ा महोत्सव करते हैं - यह बात 'श्री जंबुद्वीप पन्नत्ति' सूत्र में कही गई है।

श्री जिनेश्वरदेव के अस्थि आदि को किस प्रकार असुरकुमार देव-देवी तथा चमर-असुरेन्द्र आदि शुभभाव से पूजते हैं, उसका वर्णन तथा फल, श्री गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर ने बतलाया है, जो निम्नांकित सूत्र से स्पष्ट है -

''चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो अन्नेसिं च बहूणं असुरकुमाराणां देवाणं देवीणं य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ नमंसणिज्जाओ, पूयणिज्जाओ, सक्कारणिज्जाओ, समणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ भवंति।''

भावार्थ - वे दाढ़ाएँ (अस्थियाँ) चमर असुरेन्द्र असुरकुमार देव तथा देवियों के लिए अर्चन योग्य, वन्दन योग्य, नमन योग्य, पूजन योग्य, सत्कार योग्य, सम्मान योग्य तथा कल्याणकारी मंगलकारी देव सम्बन्धी चैत्य (जिनप्रतिमा) के समान सेवा करने योग्य है।

श्री जंबुद्वीप पन्नत्ति में भी दाढ़ाओं के अधिकार में कहा है कि **'केइ जिणभत्तीए'** अर्थात् कई देव जिनभक्ति मानकर तथा कई धर्म मानकर प्रभु की दाढ़ाओं को लेते हैं।

इस प्रकार की भक्ति करने वाले देवों को अधर्मी कैसे कह सकते हैं?

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भक्ति का फल यावत् मोक्ष और **श्री रायपसेणी** के आधार पर जिनपूजा का भी उतना ही फल सर्वज्ञ परमात्माओं ने बतलाया है। उसे निरर्थक कैसे गिन सकते हैं?

इतना होने पर भी जीताचार से पुण्य व पाप दोनों के बन्ध का निषेध कहोगे तो फिर शास्त्र में 'जीव समय-समय में सात-आठ कर्म का बन्ध करता है' - यह बात कैसे संगत होगी?

यदि कह दो कि पापबन्ध होता है, तो वह बात बिल्कुल झूठ है, क्योंकि भगवान ने तो उस आचरण का फल मोक्ष बतलाया है।

पूजा के समय तो देवता उत्कृष्ट शुभ भाव में रहते हैं तो उस शुभ भाव का फल अशुभ मिले, यह कैसे सम्भव है? भक्ति करने वाले मनुष्यों को तो पुण्यबन्ध और देवताओं को पापबन्ध हो - यह कैसा प्रलाप है?

प्रश्न 74 - देवता तो सम्पूर्ण जीवन में एक ही बार मूर्तिपूजा करते हैं, फिर नहीं। तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों वर्ग के देव वैसा करने के कारण उसे जीताचार कहते हैं, परन्तु शुभ आचरण नहीं?

उत्तर - **श्री रायपसेणी सूत्र** में सूर्याभदेव ने जब पूछा कि - 'मुझे आगे तथा पीछे हितकारी और करने योग्य क्या है?' तब सामानिक देवों ने कहा - ''तुम्हें आगे तथा पीछे श्री जिनेश्वरदेव की पूजा हितकारी और करने योग्य है'' इससे सम्यग्दृष्टि सूर्याभदेव ने श्री जिनप्रतिमा की पूजा नित्य करणीय और हितकारी समझकर नित्य की है, ऐसा समझना चाहिए।

किसी भी मिथ्यादृष्टि देव ने श्री जिनपूजा की हो, उसका उल्लेख किसी भी सूत्र में नहीं है। अत: वह आचरण समस्त देवों के लिए नहीं, किन्तु सम्यग्दृष्टि देवों के लिए ही है। **श्री रायपसेणी सूत्र** में भी लिखा है -

'अन्नेसिं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ।'

अर्थ - दूसरें भी बहुत से देव तथा देवियों के लिए पूजने योग्य हैं।

इत्यादि पाठ से स्पष्ट है कि सिर्फ सम्यग्दृष्टि देव ही पूजते है। यदि समस्त देवों के लिए पूजा अनिवार्य होती तो **'सव्वेसिं वेमाणियाणं देवाणयं'** ऐसा पाठ होना चाहिए था।

इस प्रकार देवताओं की जिस भक्ति की स्वयं तीर्थंकर परमात्मा भी प्रशंसा करते हैं, जो निरन्तर शुभभाव में मग्न रहते हैं, गुरु के दर्शन करने के लिए तथा प्रश्न पूछने के लिए विनय सहित आते हैं, एकचित्त से परमात्मा व गुरु की देशना का श्रवण करते हैं, मिथ्यादृष्टि देवों के उपद्रव को दूर करते हैं, धर्मभ्रष्ट जीवों को उपदेश देकर स्थिर करते हैं और विविध प्रकार से शासन की उन्नति करते हैं, उन समस्त कार्यों को धर्म गिनेंगे और मात्र मूर्तिपूजा करने से उन्हें अधर्मी गिनने का प्रयत्न करोगे तो यह कार्य नीचतापूर्ण ही कहा जाएगा।

यदि पूर्वोक्त कार्यों में देवता भगवान की स्तुति, भजन, स्मरण, वैयावच्च आदि कर धर्म की महिमा बढ़ाते हैं तो फिर क्या सिद्धायतन में जाकर जिनप्रतिमा के सामने इससे विपरीत करते होंगे? अर्थात् भगवान की निन्दा या अधम कृत्य करते होंगे कि जिस कारण मूर्तिपूजा को निरर्थक और अशुभ माना जाय?

शास्त्रानुसार तो वे शुभभावयुक्त **'नमोत्थुणं'** का पाठ कर स्तुति करते हैं और नाटक, गीत-गान आदि कर परम उत्कृष्ट गति का बन्ध करते हैं।

श्री आवश्यक सूत्र में **'देवाणं आसायणाए'** पाठ कहकर देवताओं की आशातना का **'मिच्छामि दुक्कडं'** देने में आया है। इस प्रकार **'मिच्छामि दुक्कडं'** देकर फिर इस प्रकार अवर्णवाद बोलना क्या न्यायसंगत है?

श्री ठाणांग सूत्र के पाँचवें उद्देश में कहा है कि सम्यग्दृष्टि देवों की आशातना तथा निन्दा करने से जीव निकाचित कर्मों का बन्ध करता है और दुर्लभबोधि बनता है।

''पंचहिं ठाणेहिं जीया दुल्लभबोहियत्ताए कम्मं पकरेति तं जहा

(1) अरिहंताणमवन्नं वदमाणे

(2) अरिहंत पणत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे

(3) आयरिय उवज्झायाणं अवण्णं वदमाणे

(4) च.उत्तण्णसंघस्स अवण्णं वदमाणे

(5) विविक्त बंभचेराणं देवाणं अवन्नं वदमाणे।

भावार्थ - पाँच स्थानों से जीव दुर्लभबोधि योग्य पापकर्म का बन्ध करता है और जैनधर्म की प्राप्ति को दुर्लभ बनाता है। वे पाँच स्थानक निम्नांकित हैं -

(1) अरिहन्त परमात्मा की निन्दा करने से (2) अरिहन्त परमात्मा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से (3) आचार्य उपाध्याय की निन्दा करने से (4) चतुर्विध संघ की निन्दा करने तथा (5) पूर्वभव में परिपूर्ण तप व ब्रह्मचर्य का पालन कर जो देव बने हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि देवों की निन्दा करने से जीव दुर्लभबोधि बनता है और उसे जैनधर्म की प्राप्ति दुर्लभ होती है। उसी सूत्र में कहा है कि उनकी प्रशंसा करने से जीव सुलभबोधि अर्थात् जिनधर्म को सरलता/सहजता से प्राप्त करने वाला बनता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देवों के बीच रातदिन का अन्तर है। उसे यथार्थ रूप से समझकर सम्यग्दृष्टि और उपकारी देवों को विपरीत व सामान्य कोटि में रखने के पाप से बचना चाहिए।

प्रश्न 75 - कहते हैं कि श्री महानिशीथ सूत्र के अमुक पन्ने नष्ट हो जाने से कई आचार्यों ने मिलकर इसे पुनः तैयार किया है। अतः इसे मानने में शंका क्यों न हो?

उत्तर - तो फिर अन्य सूत्रों को मानने में भी शंका रखनी पड़ेगी, क्योंकि वे भी अन्य आचार्यों के द्वारा ही बने हुए हैं - परन्तु यह तर्क जिनपूजा नहीं मानने की मनोवृत्ति में से ही पैदा हुआ है।

श्री महानिशीथ सूत्र में स्थान-स्थान पर मूर्तिपूजा की पुष्टि होने से श्री नंदीश्वर द्वीप का इस सूत्र में निर्देश होने पर भी उसका अनादर करने के लिए ही इस बात को आगे की जाती है। परन्तु **श्री महानिशीथ** उपरान्त अन्य अनेक सूत्रों में भी श्री जिनप्रतिमा और उसकी पूजा के पाठ आते हैं।

श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने अनेक ग्रन्थ पुस्तकारूढ़ किए, उसमें से **श्री नंदीसूत्र** में सभी सूत्रों का निर्देश है। उसी निर्देश में **श्री महानिशीथ सूत्र** है।

श्री तीर्थंकर गणधर भगवन्तों की परम्परा से चली आ रही प्रणालिका अनुसार, उन आचार्यों ने, उस सूत्र का पिछला भाग लोप हो जाने से, उन्हें जितना मिला उतना जिनाज्ञानुसार लिख दिया। आत्मार्थी, भवभीरुगीतार्थ होने से उन्होंने अपनी मनःकल्पना से एक अक्षर की

भी नवीन रचना नहीं की है।

वे लिखते हैं कि - श्री महानिशीथ सूत्र के अमुक पन्ने नष्ट हो जाने से उस सम्बन्ध में गुरुपरम्परा से जिनाज्ञानुसार जितना अधिकार मिला, उसे यहाँ स्थापित किया है। हमारी बुद्धि से इसमें कुछ भी नवीन लेख का समावेश नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस अधिकार के चले जाने से वे उसे प्राप्त न कर सके उस अधिकार को सर्वथा छोड़ दिया। यदि वे पक्षपाती होते तो यद्वा-तद्वा झूठे गप्प हाँककर उसे पूरा क्यों नहीं करते? परन्तु शुद्ध अन्तःकरण वाले महात्मा ऐसा उत्सूत्र भाषण कभी नहीं करते हैं। प्रायः समस्त सूत्र गणधरदेवों ने रचे थे, उतने समस्त श्लोकों की संख्या का प्रमाण आज रहा नहीं है। आचार्यों को जितने-जितने श्लोक याद थे, उतने तो लिख दिए और शेष छोड़ दिए. . . तो फिर जैसी शंका श्री महानिशीथ में उत्पन्न होती है, वैसी शंका अन्य अंगसूत्रों में भी होनी चाहिये। यहाँ इतना समझना महत्त्वपूर्ण है कि समुद्र जितने ग्यारह अंग एक लोटे में समा जाय उतने रह गए हैं, परन्तु पानी तो उसी स्याद्वादमय द्वादशांगी रूप समुद्र का ही है, इसमें लेश भी फर्क नहीं है।

श्री महानिशीथ सूत्र भी अन्य सूत्रों की भाँति अक्षरशः सत्य है। समुद्र समान गम्भीर बुद्धि के स्वामी, परोपकाररत महान् आचार्यों पर, जिनप्रतिमा के द्वेष से कलंक लगाना अत्यन्त अनुचित ही है। सूत्रविरुद्ध एक अक्षर की भी प्ररूपणा करने से आत्मा अनन्त संसारी होती है तो क्या उन आचार्यों को लेश भी भव का भय नहीं था?

श्री महानिशीथ सूत्र का आलेखन हुए लगभग 1400 वर्ष बीत चुके हैं तो बीच के 1000-1200 वर्ष तक कोई भी कुतर्क करने वाला क्यों पैदा नहीं हुआ? इस बीच सैकड़ों आचार्य और साधु हो चुके हैं, जिन्होंने निःशंकतया उस सूत्र को मान्य किया है अतः उसकी प्रामाणिकता में सन्देह पैदा करने वाला ही अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

प्रश्न 76 - श्री जिनेश्वर भगवन्त को वन्दन-नमस्कार रूप भाव पूजा से लाभ होता है तो फिर पुष्प-फल आदि चढ़ाने से क्या फायदा?

उत्तर - तब तो फिर साधु लोकों की पूजा भी भाव से ही करनी चाहिए। गाड़ी, मोटर, ट्रेन में चढ़कर सैकड़ों मील दूर गुरु को वन्दन करने के लिए जाने से क्या फायदा? घर बैठे मन से ही भावना कर लेनी चाहिये तथा आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, औषध, पाट आदि से द्रव्यपूजा क्यों करनी चाहिये? उसमें तो प्रत्यक्ष हिंसा है।

साधु आहार करेंगे तो उन्हें स्थंडिल जाना पड़ेगा, पेशाब करना पड़ेगा, चालू वर्षा आदि में भी मल-मूत्र का व्युत्सर्जन करना पड़ेगा और ऐसा करने पर असंख्य जीवों की यावत् पंचेन्द्रिय तक की भी हिंसा हो जाएगी। कभी साधु को अजीर्ण हो गया तो वे दुःखी होंगे, उनके पेट में द्वीन्द्रिय जीव पैदा हो जाएँगे और वे नष्ट हो जाएँगे. . . तो फिर यह

सारा पाप आहार देने वाले को नहीं लगेगा?

वस्त्र मलिन होता है, उसमें जूं आदि जीव पैदा हो सकती हैं, अत: साधु की यह सारी द्रव्यपूजा छोड़कर केवल भावपूजा ही क्यों न की जाय?

यदि आप कहेंगे कि 'साधु को दान देने से तो एकान्तत: निर्जरा बताई गई है' - तो फिर 'जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा से कर्मबन्ध होता है', यह किस सूत्र में कहा है।

पूजा में उपयोगी पुष्प आदि जीव तो मात्र एकेन्द्रिय अव्यक्त चैतन्यवाले हैं, उसमें यदि दोष बताते हो तो साधु को गर्म व मधुर भोजन वहोराते समय तो उठने-बैठने, जाने-आने की क्रिया में अनेक त्रस जीवों की भी हिंसा सम्भव है, फिर भी उसमें निर्जरा बतलाते हो - यह कहाँ का न्याय है?

एकेन्द्रिय की हिंसा से बेइन्द्रिय की हिंसा में अधिक पाप है. . . इस प्रकार अनुक्रम से पंचेन्द्रिय की हिंसा में अनन्तगुणा पाप है. . . तो फिर सोचें - साधु को द्रव्य दान देने से ज्यादा पाप या तीर्थंकर की पूजा से अधिक पाप?

जिस प्रकार साधु को दान देने का आदेश अनेक सूत्रों में है उसी प्रकार जिनेश्वर की द्रव्यपूजा का आदेश भी अनेक सूत्रों में है। जिस बात का निषेध न हो, उसका आदेश समझना चाहिए। जिस प्रकार गृहस्थ के लिए मुनिदान उचित है, उसी प्रकार द्रव्यपूजा भी उचित ही है। एक का आदर और दूसरे का अनादर करना - यह एकमात्र स्पष्ट पक्षपात ही है। क्योंकि सम्यक्त्व के आचरण में सुपात्रदान और जिनपूजा, इन दोनों कार्यों का समावेश होता है। यह भी सोचने योग्य है कि इच्छारहित को दान देना श्रेष्ठ है या इच्छावान् को? सकर्मी को दान देना विशेष योग्य है या अकर्मी अर्थात् कर्मरहित को दान देना विशेष योग्य है? सोचने पर पता चलेगा कि इच्छा वाले सकर्मी साधु की द्रव्यपूजा की अपेक्षा इच्छारहित और कर्ममल से सर्वथा मुक्त वीतरागदेव की द्रव्यपूजा करना विशेष फलदायी है। इस कारण श्री प्रश्नव्याकरण में द्रव्यपूजा को 'दया' शब्द से सम्बोधित किया है तथा 'आवश्यक सूत्र' में पुष्पादि से पूजा करने से संसार-क्षय का फल बतलाया है।

प्रश्न 77 - श्री प्रश्नव्याकरण में दया के आठ नाम बतलाए हैं, उसमें पूजा को भी दया में गिना है तो फिर वहाँ भावपूजा क्यों नहीं समझना?

उत्तर - भावपूजा क्या वस्तु है? उसे बराबर समझना चाहिए। जिस समय द्रव्यपूजा की जाती है, उस समय मन में जो शुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं, उसी का नाम भावपूजा है। द्रव्य के बिना किसी काल में भाव सम्भव नहीं है।

जैसे - रसोई की हो तभी आहार रूप द्रव्य से साधु को दान देने की भावना कर सकते हैं और उसी को भाव कहते हैं। केवल भावना कोई पदार्थ नहीं है। जो बारह भावनाएँ

हैं वे भी अमुक-अमुक द्रव्य पर आश्रित हैं।

श्री जिनेश्वर के गुण की प्रशंसा करना स्तुति कहलाता है, पूजा नहीं और द्रव्यपूजा करने वाले की अनुमोदना करना वह भावपूजा है।

अगर कोई स्त्री रसोई की सामग्री तैयार किए बिना ही साधु को दूर से आते देख, दरवाजा बन्द कर झरोखे में बैठकर मन में भावना करे कि ''साधु को आहार-पानी बहोराने से जीव की मुक्ति होती है।'' तो उसकी यह भावना सच्ची या झूठी? सार्थक या निरर्थक? द्रव्य पदार्थ रहित होने से वह भावना व्यर्थ है। जहाँ चित्त, वित्त और पात्र - इन तीनों का योग हो वहीं उत्तम लाभ सम्भव है। वित्त और पात्र रहित चित्त की शास्त्रकारों ने प्रशंसा नहीं की है क्योंकि अधिकांशत: वह दम्भ रूप बन जाती है।

श्री आवश्यक सूत्र में **'लोगस्स'** के पाठ में जो **'कित्तिय वंदिय महिया'** पाठ आता है, उसमें 'कित्तिय' का अर्थ 'कीर्ति अथवा स्तुति की' और 'वंदिय' का अर्थ 'वंदना की' ये दो शब्द भावपूजावाचक हैं, परन्तु 'महिया' शब्द का अर्थ 'महिता: पुष्पादिभि:' अर्थात् पुष्पादिक से पूजा की' अर्थात् यह वचन द्रव्यपूजा आश्रित है - फिर भी कई लोग भावपूजा का झूठा अर्थ कर भ्रम में डालते हैं - वह असत्य है। किसी भी टीकाकार अथवा टबाकार ने केवल भावपूजा का अर्थ नहीं किया है, बल्कि भावपूजा और द्रव्यपूजा उभय अर्थ ही किया है।

प्रश्न 78 - **मूर्ति को स्नान ही कराना है तो फिर कच्चे (सचित्त) जल के बजाय अचित्त गुलाबजल आदि से कराने में क्या नुकसान है? फल-फूल के बदले कागज के फूल तथा इलायची, लौंग आदि अचित्त वस्तुओं का उपयोग करने में क्या तकलीफ है?**

उत्तर - भद्रिक आत्माओं को सन्मार्ग से भ्रष्ट करने के लिए यह एक कुटिल तर्क है। इस प्रकार का कुतर्क देने वाले इस तर्क का उपयोग अपने ही घर में क्यों नहीं करते हैं? अपने गुरु गोचरी के लिए आएँ तब उन्हें कागज तथा कपड़े की अचित्त रोटी बहोराएँ. . . गर्म पानी के बदले अचित्त गुलाबजल आदि दें और स्वयं एकासना-उपवास आदि करे तब कागज-कपड़े की रोटियाँ खाए व अचित्त गुला जल आदि पीए क्योंकि पानी गर्म करने से व रसोई करने से तो षट् जीवनिकाय की हिंसा होगी।

ये सारे कुतर्क व्यर्थ हैं। पूजा की जो उचित पद्धति चली आ रही है उसे बदलने में भयंकर अनर्थ के सिवाय अन्य कुछ परिणाम नहीं है। कागज के फूल या गुलाब जल से पूजा या दान देने से आज्ञा-भंग का दोष तो लगता ही है परन्तु उसके सिवाय भी अनेक दोषों की परम्परा चालू हो जाती है। भक्ति के बदले केवल अभक्ति और आशातना ही होती है।

जो मौज-शौक और सांसारिक कार्यप्रसंगों में फूलों के हार-गजरा आदि बनाकर

पास में रखते हैं, उसमें सैकड़ों फूलों की हिंसा हो जाने पर भी पाप का लेश भी ख्याल नहीं रहता है और वे पूजा के पुष्प, जो प्रभु के अंग पर निर्भय स्थान में चढ़ते हैं, उसमें भयंकर पाप मानते हैं, सचमुच उनकी बुद्धि उन्मार्गगामी ही बनी है। ऐसा शिक्षण देने वाले गुरुओं के सामने जाना, उन गुरुओं के दीक्षा व मृत्यु के प्रसंग में सैकड़ों मील दूर से वन्दन के लिए जाना - इत्यादि कृत्यों में एकेन्द्रिय सिवाय विकलेन्द्रिय-पंचेन्द्रिय जीवों की भी प्रत्यक्ष हिंसा है, फिर भी उस हिंसा के सामने आँख-मिचौनी कर केवल जिनपूजा के महान् धर्म से भ्रष्ट करने के लिए ऐसा कुतर्क देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? प्रायः ऐसा कोई धर्म कार्य नहीं है, जिसमें हिंसा का लेश भी अंश न हो, इतने मात्र से धर्मप्रवृत्ति का त्याग करोगे, तब तो जगत् में एक भी कार्य उपादेय नहीं गिना जाएगा।

प्रश्न 79 - श्री जिनप्रतिमा की स्तुति करने की सर्वोत्तम विधि क्या है?

उत्तर - प्रतिमा में भगवान के नाम तथा गुणों का आरोपण कर उसके समक्ष भगवान की स्तुति करना, यह सर्वोत्तम विधि है। जैसे अपने पूर्वजों का चित्र देखकर सभी उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे सुनकर चित्त प्रसन्न होता है तथा पूर्वजों को आदर मिलता है, ऐसा प्रतिभास होता है, वैसे ही भगवन्त की प्रतिमा का आदर करने से भगवान का ही आदर होता है, ऐसा लगना चाहिए।

भगवान को आदर देने की इच्छा जगी, यह भी परम शुभ अध्यवसाय का लक्षण है और उससे जीव महान् पुण्य उपार्जित करता है। गृहस्थाश्रम भोगने वाले श्रावकों के लिए भगवान का गुणगान करने हेतु अनुकूल स्थान श्री जिनमन्दिर को छोड़कर अन्य कोई नहीं है।

भगवान के गुणों का स्मरण तथा ध्यान करने के लिए श्री जिनमन्दिर में जिनप्रतिमा की स्थापना की गई है। उसके दर्शन के साथ ही भगवान के गुण याद आते हैं।

श्री जिनमूर्ति की मुखाकृति देखकर विचार पैदा होता हैं, 'अहो! यह मुख कितना सुन्दर है कि जिसके द्वारा किसी के लिए भी अपशब्द नहीं बोला गया तथा जिससे कभी हिंसक, कठोर अथवा कड़वे वचन नहीं निकले। उसमें रही जीभ से रसनेन्द्रिय के विषयों का कभी भी रागद्वेष से सेवन नहीं किया गया, परन्तु उस मुख द्वारा धर्मोपदेश देकर अनेक भव्य जीवों को इस संसार-सागर से पार उतारा गया है, इसलिए यह मुख हजारों बार धन्यवाद का पात्र है।''

भगवान की नासिका द्वारा सुगन्ध या दुर्गन्ध रूप घ्राणेन्द्रिय के विषयों का राग अथवा द्वेषपूर्वक उपभोग नहीं किया गया।

'इन चक्षुओं द्वारा पाँच वर्ण रूप विषयों का पल भर के लिये भी राग अथवा

द्वेषपूर्वक उपभोग नहीं किया गया। किसी भी स्त्री की ओर मोहदृष्टि से अथवा किसी शत्रु की ओर द्वेषदृष्टि से नहीं देखा गया; केवल वस्तुस्वभाव तथा कर्म की विचित्रता का विचार कर भगवान के नेत्र सदा समभात्र में रहते हैं। ऐसे भगवान के नेत्रों को कोटिश: धन्य है।'

'इन दोनों कानों के द्वारा विचित्र प्रकार की राग-रागिनियों का रागपूर्वक श्रवण नहीं किया गया परन्तु इन्होंने मधुर या कटु, अच्छे या बुरे जैसे भी शब्द कान में पड़े, उनको रागद्वेष रहित होकर सुना है।''

'इस शरीर को किसी जीव की हिंसा अथवा अदत्त-ग्रहण आदि का दोष नहीं लगा। इसका उपयोग केवल जीवरक्षा निमित्त तथा सभी को सुख मिले, उसी ढंग से हुआ है। इस देह ने गाँव-गाँव विहार कर अनेक जीवों के सांसारिक बन्धनों को तोड़ा है तथा सभी कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान या केवलदर्शन को प्रकट किया है।'

'ऐसे प्रभु अनुपम उपकारी तथा सम्पूर्ण जगत् के अकारण बन्धु होने से उनको असंख्य बार धन्यवाद है। इनकी यथाशक्ति भक्ति करना, यह मेरा परम कर्तव्य है।'

प्रभु की शान्त मुद्रा देखकर ऐसी शुभ भावना अन्त:करण में उत्पन्न होती है। उत्तम जीव, नि:स्वार्थ प्रेमी, ऐसे परमात्मा की जल, चन्दन, केसर, बरास, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, फल, नैवेद्य आदि से पूजा करते हैं, बहुमूल्य आभूषण चढ़ाते हैं, इनकी भक्ति में यथाशक्ति धन खर्च करते हैं और सोचते हैं कि 'यदि मैं प्रभु की भक्ति करूंगा तो मैं स्वयं तिरने के साथ अन्यों का तिराने में भी निमित्त बनूंगा क्योंकि मेरी भक्ति देखकर दूसरे लोग उसका अनुकरण करेंगे तथ अनेक भव्य पुरुष भगवान की सेवा करने में तत्पर होंगे और मैं उसमें निमित्त बनूंगा।'

द्रव्यपूजा-समाप्ति के पश्चात् भावपूजा करते समय भक्त भगवान के गुणों का स्मरण कर अपनी आत्मा के साथ उनकी तुलना करता है कि -

'अहो! प्रभु वीतरागी है और मैं रागी हूँ।
प्रभु द्वेष रहित हैं और मैं द्वेष पूर्ण हूँ।
प्रभु क्रोध रहित हैं और मैं क्रोधी हूँ।
प्रभु निष्काम हैं और मैं कामी हूँ।
प्रभु निर्विषयी हैं और मैं विषयी हूँ।
प्रभु मान रहित हैं और मैं मानी हूँ।
प्रभु माया से परे हैं और मैं मायावी हूँ।
प्रभु निर्लोभ हैं और मैं लोभी हूँ।
प्रभु आत्मानन्दी हैं और मैं पुद्गलानन्दी हूँ।
प्रभु अतीन्द्रिय सुख के भोगी है और मैं विषय सुख का भोगी हूँ।

प्रभु स्वभावी हैं और मैं विभावी हूँ।

प्रभु अजर हैं और मैं सजर हूँ।

प्रभु अक्षय हैं और मैं क्षय को प्राप्त होते रहने वाला हूँ।

प्रभु अशरीरी हैं और मैं सशरीरी हूँ।

प्रभु अनिंदक हैं और मै निंदक हूँ।

प्रभु अचल हैं और मैं चल हूँ।

प्रभु अमर हैं और मैं मरणशील हूँ।

प्रभु निद्रा रहित हैं और मैं निद्रा सहित हूँ।

प्रभु निर्मोह हैं और मैं मोह वाला हूँ।

प्रभु हास्य रहित हैं और मैं हास्य सहित हूँ।

प्रभु रति रहित हैं और मैं रति सहित हूँ।

प्रभु शोक रहित हैं और मैं शोक सहित हूँ।

प्रभु भय रहित हैं और मैं भयभीत हूँ।

प्रभु अरति रहित हैं और मैं अरति सहित हूँ।

प्रभु निर्वेदी हैं और मैं सवेदी हूँ।

प्रभु क्लेशरहित हैं और मैं क्लेशसहित हूँ।

प्रभु अहिंसक हैं और मैं हिंसक हूँ।

प्रभु वचन-रहित हैं और मैं मृषावादी हूँ।

प्रभु प्रमाद रहित हैं और मैं प्रमादी हूँ।

प्रभु आशा रहित हैं और मैं आशावान् हूँ।

प्रभु सभी जीवों को सुखदायी हैं और मैं अनेक जीवों को दुःखदायी हूँ।

प्रभु वंचना रहित हैं और मैं वंचक हूँ।

प्रभु आस्रव रहित हैं और मैं आस्रव सहित हूँ।

प्रभु निष्पाप हैं और मैं पापी हूँ।

प्रभु कर्मरहित हैं और मैं कर्म सहित हूँ।

प्रभु सभी के विश्वासपात्र हैं और मैं अविश्वासपात्र हूँ।

प्रभु परमात्मपद को पहुँचे हुए हैं और मैं बहिरात्मभाव में घूम रहा हूँ! आदि।

इस प्रकार प्रभु तो अनेक गुणों से परिपूर्ण हैं और मैं सब प्रकार के दुर्गुणों से परिपूर्ण हूँ। इसी कारण मैं इस संसाररूपी वन में अनंतकाल से भटक रहा हूँ। आज मेरे भाग्योदय से मुझे भगवान की मूर्ति के दर्शन हुए तथा उसके आलम्बन से मुझे प्रभु के गुणों का तथा मेरे अवगुणों का स्मरण हुआ। प्रभु के गुण तथा मेरे अवगुण समझ में आये। अब मैं अपने

दुर्गुणों को छोड़ने का प्रयत्न करूँ तथा जो मार्ग भगवान ने बतलाया है उसका अनुसरण करूँ, सुख एवं कल्याण के लिए जैसा व्यवहार करने का उन्होंने फरमाया है, वैसा ही व्यवहार मैं करूँ।

इस प्रकार की शुभ भावना से स्तुति करता हुआ जीव अपने अशुभ तथा क्लिष्ट कर्मों का नाश करता है इससे समकित की शुद्धि होती है और परम्परागत मोक्ष के अनन्त सुखों की प्राप्ति होती है।

श्री जिनप्रतिमा की पूजा तथा स्तुति से इस प्रकार के साक्षात् तथा परम्परागत अनेक लाभ होने से प्रत्येक भव्य आत्मा को जिनप्रतिमा का प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त आदर करना चाहिए।

प्रश्न 80 - पूजा और प्रतिष्ठा महामंगलकारी हैं, तो फिर मूर्ति की प्रतिष्ठा में शुभाशुभ मुहूर्त देखने का क्या प्रयोजन?

उत्तर - किसी योग्य शिष्य को जब दीक्षा देनी होती है तब शुभ मुहूर्त क्यों देखा जाता है? क्या दीक्षा अमंगलकारी है कि जिसके लिए शुभ मुहूर्त की आवश्यकता होती है? शुभ नक्षत्र तथा शुभ ग्रह, शुभ सूचक हैं व अशुभ ग्रह तथा अशुभ नक्षत्र, अशुभ सूचक हैं, अतः प्रत्येक शुभ कार्य में शुभ मुहूर्त देखने की आवश्यकता है।

भगवान स्वयं तो वीतराग हैं और उनकी मूर्ति भी सभी जीवों का भला करने वाली है फिर भी कोई दुष्ट आत्मा उनकी आशातना, निंदा अथवा आज्ञा का उल्लंघन करे और परिणामस्वरूप उसका अहित हो तो उसमें भगवान या मूर्ति का दोष नहीं है।

शास्त्रकारों के आदेशानुसार सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, तप, जप, नियम, ध्यान आदि प्रत्येक क्रिया विधिवत् करने से लाभ करती है तथा प्रतिकूल रूप से करने पर हानि करती है। यही बात मूर्ति की प्रतिष्ठा के विषय में भी समझनी चाहिए।

शास्त्राभ्यास भी असमय और अविधि से करने की मना ही है। उसी भाँति मूर्तिपूजा आदि समस्त लाभकारी क्रियाएँ जिस मात्रा में भावपूर्वक तथा विधि-सम्मानपूर्वक करने में आती हैं, उतनी ही मात्रा में फलदायी होती हैं। मुनिराज सदा सबके हितकारी होते हुए भी जिस भाव से उनकी ओर देखा जाता है, उसी प्रकार का फल जीव प्राप्त करते हैं। जैसे किसी महासती साध्वी को रूपवान देखकर किसी विषयी पुरुष को कामविकार उत्पन्न हो जाय तो क्या इससे वह साधु या साध्वी अवन्दनीय हो जायेगी? उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान श्री मल्लिनाथजी की प्रतिमा देखकर छह राजा कामातुर हो गये। तो क्या इससे भगवान श्री मल्लिनाथजी की महिमा समाप्त हो गई? कामीजनों के मोहनीय कर्म के उदय से उनकी खराब गति होती है, उसका कारण उनके स्वयं के क्लिष्ट कर्म हैं, न कि वे महापुरुष।

'अनार्य लोगों को श्री जिनमूर्ति से कहाँ लाभ होता है?' ऐसा प्रश्न करने वाले को

समझना चाहिए कि जिसने सच्चे देव के यथार्थ स्वरूप को नहीं जाना और उनकी प्रतिमा को अपने इष्टदेव के रूप में स्वीकार नहीं किया, ऐसी आत्माओं को श्री जिनमूर्ति से लाभ न हो तो उसका कारण उनकी अयोग्यता है। जो परमात्मा के स्वरूप को वास्तविक रूप से जान-पहचान कर परमात्मा की प्रतिमा को वन्दन-पूजन करते हैं, उनको आर्द्रकुमार की भाँति अवश्य शुभध्यान उत्पन्न होता है तथा अचिन्त्य लाभ मिलता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं।

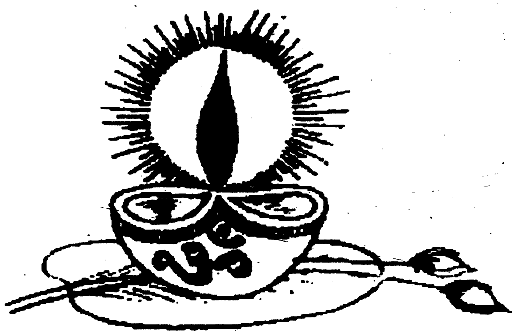

स्थापना अरिहन्त की उपासना

सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त परमात्मा का भावनिक्षेप पूज्य होने से उनके नामादि निक्षेप भी उतने ही पूज्य और आदरणीय हैं।

वर्तमानकाल में भरतक्षेत्र में तीर्थंकर परमात्मा भावनिक्षेप से विद्यमान नहीं हैं। द्रव्य और भाव निक्षेप से परमात्मा सर्वत्र विद्यमान नहीं रह सकते हैं, किन्तु नाम और स्थापना निक्षेप से तो परमात्मा सर्वत्र विद्यमान रह सकते हैं। अत: साक्षात् परमात्मा के विरह काल में तो हमारे लिए उनकी भक्ति और उपासना का एक मात्र साधन नाम और स्थापना निक्षेप ही है। ठीक ही कहा है -

विषम काल जिन बिम्ब जिनागम, भवियण कूं आधारा।

तीर्थंकर परमात्मा जब इस पृथ्वीतल पर विचरते थे तो भी उनका अस्तित्व किसी क्षेत्र विशेष में ही मिलता था, अन्यत्र नहीं। जैसे - भगवान महावीर राजगृही में विचरते थे, तब उनका अस्तित्व केवल राजगृही में था, अन्यत्र नहीं। उस समय भी अन्य क्षेत्रगत लोगों के लिए परमात्म-भक्ति का एक मात्र साधन जिनेश्वर की स्थापना ही था।

नाम-स्मरण से भी स्थापना द्वारा अधिक भक्ति की जा सकती है। नाम-स्मरण के समय, किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष का आलम्बन न होने से मन का अन्यत्र भ्रमण सम्भव है, किन्तु स्थापना निक्षेप में मन की एकाग्रता का प्रयास सुसाध्य है।

नाम निक्षेप द्वारा मात्र परमात्मा के नाम का ही स्मरण किया जा सकता है, जबकि स्थापना निक्षेप में परमात्मा की पूजा, भक्ति, उपासना, कीर्तन, नाच-गान, स्तवना आदि सभी सम्भव हैं।

परमात्मा के विरह काल में परमात्म-भक्ति का एक मात्र साधन जिन-प्रतिमा है।

सालम्बन ध्यान के बिना निरालम्बन ध्यान सम्भव नहीं है। अत: सालम्बन ध्यान के लिए सर्वश्रेष्ठ जिन-प्रतिमा का ध्यान आवश्यक है।

निराकार सिद्ध परमात्मा की उपासना के पूर्व साकार अरिहन्त परमात्मा की उपासना आवश्यक है। साकार के ध्यान से ही निराकार के ध्यान में पहुँच सकते हैं। साकार ध्यान के लिए अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा ही सर्वश्रेष्ठ आलम्बनभूत है।

"One picture is worth than ten thousand words", के नियमानुसार परमात्मा के हजार बार नाम-स्मरण से जो लाभ नहीं होता हैं, वह एक बार जिनेश्वर प्रतिमा के आलम्बन से हो सकता है।

मानव-मन पर नाम से भी अधिक असर स्थापना का होता है, इस नियमानुसार परमात्मा की प्रतिमा के आलम्बन से ज्यादा लाभ होता है।

सर्वश्रेष्ठ द्रव्य जिनेश्वर की स्थापना है। शास्त्रों में स्थापना जिनेश्वर की भक्ति के अनेक प्रकार बतलाए हैं।

प्रस्तुत विषय के संदर्भ में पूर्व पुरुषों के द्वारा विरचित **'चैत्य-स्तव'** सूत्र का विवेचन यहाँ अनुपयुक्त नहीं होगा।

शब्द-शास्त्र विशारदों ने 'चैत्य' शब्द का अर्थ अरिहन्त की प्रतिमा और जिनमन्दिर किया है। **(चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बं वा)**

अनन्त उपकारी अरिहन्त परमात्मा की शाश्वत-अशाश्वत प्रतिमाएँ तीनों लोकों में विद्यमान हैं। उन सब प्रतिमाओं की भक्ति की भावना भक्त के हृदय में अवश्य होती है। एक स्थल पर रहकर उन सबकी भक्ति सम्भव नहीं है। अत: उन सबकी भक्ति के फल को पाने के लिए (एक अरिहन्त परमात्मा के बिम्ब की विशिष्ट भक्ति करने के बाद) भक्तात्मा **'चैत्य-स्तव'** के द्वारा उन सबकी भक्ति की अनुमोदना करता है।

'चैत्य-स्तव'

अरिहंत चेइयाणं करेमि काउसग्गं
वंदण-वत्तियाए पूअण-वत्तियाए सक्कार-वत्तियाए
सम्माण-वत्तियाए बोहि-लाभ-वत्तियाए निरुवसग्ग-वत्तियाए
सद्धाए-मेहाए धिइए-धारणाए
अणुप्पेहाए-वड्ढमाणीए ठामि-काउसग्गं।

विवेचन

अरिहंत चेइयाणं - चित्त अर्थात् अन्त:करण, उसके भाव अथवा उसकी क्रिया को चैत्य कहते हैं। अरिहन्त की प्रतिमा प्रशस्त समाधि वाले चित्त को उत्पन्न करती है अथवा अरिहन्त की प्रतिमा से चित्त में प्रशस्त समाधि उत्पन्न होती है, अत: उन्हें चैत्य कहते हैं। चैत्य (प्रतिमा) के निवासस्थान को भी चैत्य कहते हैं, क्योंकि वह भी प्रशस्त समाधि वाले चित्त का जनक है। उन अरिहन्तों की प्रतिमाओं को वन्दनादि करने के लिए - ।

करेमि काउसग्गं - मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। उत्सर्ग अर्थात् त्याग।

काया से एक स्थान पर स्थिरता, वाणी से मौन और मन से शुभ ध्यान करने की क्रिया को छोड़कर (श्वासोच्छवास आदि के आगारपूर्वक अन्य समस्त क्रियाओं का त्याग करता हूँ।)

वंदण वत्तियाए - वन्दन अर्थात् मन, वचन और काया की प्रशस्त प्रवृत्ति। समस्त चैत्यों के वन्दन के फल के लिए (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

पूअण वत्तियाए - पूजन अर्थात् सुगंधित पुष्प, केसर आदि से अर्चना। पूजा के फल के लिए (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

सक्कार वत्तियाए - श्रेष्ठ वस्त्र, अलंकार आदि से अभ्यर्चन को सत्कार कहते हैं। सत्कार के फल के लिए (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

प्रश्न - क्या साधु के लिए पूजन और सत्कार निषिद्ध नहीं हैं?

उत्तर - साधु के लिए द्रव्य स्तव करने का निषेध है, किन्तु 'कराने' और 'अनुमोदन' करने का निषेध नहीं है। अतः साधु गृहस्थ को पूजा का उपदेश दे सकते हैं और परमात्मा की भव्य आंगी को देखकर अनुमोदन भी कर सकते हैं।

सम्माण वत्तियाए - स्तुति आदि द्वारा गुणों के उत्कीर्तन को सम्मान कहते हैं। चैत्यों के सम्मान के फल के लिए (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

वन्दन के हेतु

बोहिलाभ वत्तियाए - अरिहन्त प्रणीत धर्म की भाव से प्राप्ति अर्थात् बोधि के लिए (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

निरुवसग्ग वत्तियाए - जन्म आदि उपसर्ग से रहित स्थान मोक्ष की प्राप्ति के लिए (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

(श्रद्धा आदि से रहित कायोत्सर्ग फलदायी नहीं बनता है, अतः उनसे युक्त कायोत्सर्ग करता हूँ।)

सद्धाए - बढ़ती हुई श्रद्धा से। श्रद्धा अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि से जन्य चित्त की निज अभिलाषा रूप प्रसन्नता। यह श्रद्धा जीवादि तात्त्विक पदार्थों का अनुसरण करने वाली है, भ्रांति का नाश करने वाली है और कर्म-फल, कर्म-सम्बन्ध और कर्म के अस्तित्व की प्रतीति कराने वाली है।

शास्त्र में इसे 'उदक प्रसादक मणि' की उपमा दी गई है। गन्दे सरोवर में 'उदक प्रसादक मणि' डालने पर सरोवर की पंक-कलुषता दूर हो जाती है और सरोवर का जल स्वच्छ बन जाता है। इसी प्रकार श्रद्धा रूपी मणि से चित्त सरोवर में रहा हुआ संशय-विपर्यय आदि का मैल दूर हो जाता है और अरिहंत प्रणीत मार्ग पर सम्यग् भाव उत्पन्न होता है।

मेहाए - मेधा अर्थात् बुद्धि पूर्वक। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जन्य ग्रंथ ग्रहण करने का पटु परिणाम। यह परिणाम सद्ग्रंथ में प्रवृत्ति करानेवाला है, पापश्रुत की

अवज्ञा कराने वाला है और गुरु विनयादि में जोड़ने वाला है।

शास्त्र में इसे 'आतुर-औषधाप्ति उपादेयता' की उपमा दी गई है। जिस प्रकार किसी बुद्धिमान रोगी को उत्तम औषधि की प्राप्ति हो और उससे विशिष्ट फल का अनुभव हो जाय तो वह अन्य समस्त वस्तुओं का त्याग कर उसी औषध के ग्रहण करने में आदर भाव रखता है; इसी प्रकार मेधावी पुरुष को भी अपनी मेधा के सामर्थ्य से सद्ग्रंथ के विषय में अत्यन्त उपादेय भाव रहता है, क्योंकि वह सद्ग्रंथ को ही भाव-औषध मानता है।

धीइए - रागादि आकुलता से रहित मन की स्थिरता द्वारा।

मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि से उत्पन्न प्रीति को धृति कहते हैं। शास्त्र में इसे 'दौर्गत्यहतचिंतामणि प्राप्ति' की उपमा दी गई है। जिस प्रकार दरिद्रता से उपहत व्यक्ति को चिंतामणि रत्न की प्राप्ति होने पर और उसके गुण को जान लेने पर 'अब मेरा दारिद्र्य चला गया' इस प्रकार का मानसिक सन्तोष उत्पन्न होता है; उसी प्रकार जिसे जिनधर्म रूपी चिंतामणि रत्न की प्राप्ति हुई है और जिसने उसके रहस्य को समझा है, उसके लिए अब यह संसार मेरा क्या बिगाड़ सकता है?' इस प्रकार चिन्ता रहित मानसिक सन्तोष उत्पन्न होता है।

धारणाए - धारणा अर्थात् अविस्मरण द्वारा। यह धारणा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जन्य है। किसी वस्तु विशेष को विषय करने वाली है।

शास्त्र में इसे सच्चे मोती की माला पिरोने की उपमा दी है। विशिष्ट प्रकार के उपयोग की दृढ़ता से तथा यथायोग्य अविक्षिप्त रूप से स्थानादि योग में प्रवृत्त होने से योग रूप गुणमाला तैयार होती है।

अणुप्पेहाए - विचारपूर्वक अनुप्रेक्षा द्वारा। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जन्य अनुभूत अर्थ के अभ्यास विशेष को अनुप्रेक्षा कहते हैं जो परम संवेग का हेतु है, उत्तरोत्तर पदार्थ के विशेष-विशेष रहस्य को बताने वाला है और अन्त में केवलज्ञान की ओर ले जाने वाला है।

शास्त्र में इसे 'रत्नशोधक अनल' की उपमा दी गई है। जिस प्रकार 'रत्नशोधक अग्नि' रत्न की अशुद्धि को दूर कर देता है, इसी प्रकार अनुप्रेक्षा रूपी अग्नि आत्मरत्न में रही कर्म-मल की अशुद्धि को जलाकर कैवल्य को पैदा करती है।

ये श्रद्धा आदि पाँच गुण अपूर्वकरण नामक महासमाधि के बीज हैं। इसके परिपाक और अतिशय से अपूर्वकरण की प्राप्ति होती है।

कुतर्क से उत्पन्न मिथ्या विकल्पों को दूर कर श्रवण, पठन, प्रतिपत्ति, इच्छा और प्रवृत्ति में जुड़ना यह इसका परिपाक है तथा स्थैर्य और सिद्धि को प्राप्त करना इसका अतिशय है।

श्रद्धादि गुणों के परिपाक और अतिशय से प्रधान परोपकार के हेतु रूप अपूर्वकरण गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

श्रद्धादि के लाभ का क्रम भी इसी प्रकार है - श्रद्धा से मेधा, मेधा से धृति, धृति से धारणा और धारणा से अनुप्रेक्षा का लाभ होता है तथा श्रद्धा की वृद्धि से धारणा की वृद्धि और धारणा की वृद्धि से अनुप्रेक्षा की वृद्धि होती है।

जिन-प्रतिमा की अवहेलना, साक्षात् परमात्मा की ही आशातना है। अतः भूलकर भी जिन-प्रतिमा कीआशातना न करें।

卐

भक्ति में श्रद्धा व समर्पण अनिवार्य है। बिना हस्ताक्षर के चैक की कोई कीमत नहीं है, वैसे ही बिना समर्पण की भक्ति भी वन्ध्या ही है।

卐

सूर्य के आगमन के साथ ही अन्धकार दूर भाग जाता है. . . वैसे ही हृदय में प्रभु-भक्ति के आगमन के साथ ही आत्मा में रहा अज्ञान-अन्धकार दूर हो जाता है।

परमात्म-पूजन से तीन गुणों की सिद्धि

देवाधिदेव वीतराग परमात्मा की आदर-बहुमान तथा शास्त्रोक्तविधि पूर्वक पूजा करने से हमें तीन गुणों की सिद्धि होती है, जो निम्नानुसार हैं -

1. **गुण बहुमान** - गुणानुराग, गुणप्राप्ति का अमोघ साधन है। व्यक्ति के हृदय में जिस वस्तु के प्रति तीव्र प्रेम होता है, वह वस्तु उसे अवश्य मिलती है। मुमुक्षु आत्मा को गुण चाहिये और इन गुणों के स्वामी तीर्थंकर परमात्मा ही हैं। अत: तीर्थंकर परमात्मा की पूजा-भक्ति से उनमें रहे अनन्त गुणों का बहुमान होता है और उस बहुमान के फलस्वरूप भक्तात्मा को भी उन गुणों की प्राप्ति होती है।

अनन्त गुणी जिनेश्वर देव की पूजा का अध्यवसाय भी अनन्त फल को देने वाला है तो फिर पूजन से अनन्त लाभ हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

2. **कृतज्ञता** - अपने उपकारी के उपकार को नहीं भूलना 'कृतज्ञता' है। जिनेश्वर परमात्मा का अपने पर अमाप उपकार है। माता-पिता, विद्यागुरु आदि का उपकार भी दुष्प्रतिकार है और सद्धर्मगुरु का उपकार तो और भी अत्यन्त दुष्प्रतिकार है। उन सब से बढ़कर तीर्थंकर का उपकार है।

माता, पिता, विद्यागुरु व धर्मगुरु के उपकार का बदला कदाचित् इस जन्म अथवा अन्य जन्म में, उन्हें धर्मबोध करने के प्रसंग से चुका सकते हैं, किन्तु अरिहन्त परमात्मा के उपकार को चुकाने का तो कोई मार्ग ही नहीं है, क्योंकि वे तो कृतकृत्य बन चुके हैं और उनका उपकार भी अनन्त गुणा है।

यदि तीर्थंकर परमात्मा ने केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद तीर्थ की स्थापना नहीं की होती तो धर्मगुरु भी उपकार करने में असमर्थ रह जाते, अत: तीर्थंकर परमात्मा तो परम गुरु हैं। वे अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाले हैं। एक जीवनदान से भी उनका दान बढ़कर है, क्योंकि वे तो अमर ही बना देते हैं।

जिनेश्वर परमात्मा ने 'पुन: कभी मरना न पड़े' ऐसा अमरता का मार्ग बतलाया है, उस मार्ग का अनुसरण कर आज तक अनन्त आत्माएँ अजर-अमर पद को प्राप्त हुई हैं। अत: उनके उपकार का कोई माप नहीं है।

वे तो त्रिजगत्शरण हैं, त्रिभुवनबन्धु हैं, अकारणवत्सल हैं, अचिंत्य चिंतामणि हैं,

मुक्तिपथप्रदर्शक हैं, भवोदधिनिर्यामक हैं, महागोप हैं।

परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट मार्ग की आराधना से जीवात्मा इस दुःखमय संसार में भी सुख का अनुभव करता है।

ऐसे अनन्तोपकारी परमात्मा के पूजन से हमें कृतज्ञता गुण की प्राप्ति होती है।

3. **विनय** - जिससे आठ प्रकार के कर्म दूर होते हैं, उसे जैनशासन में विनय कहते हैं। विनय सर्व गुणों का मूल है। विनयरहित दानादि सब निष्फल हैं।

विनय से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की प्राप्ति होती है। परमात्म-भक्ति यह सर्वश्रेष्ठ विनय है। जिनेश्वर की पूजा से नम्रता गुण का विकास होता है और हमें भी परमात्मा के गुणों की प्राप्ति होती है।

हे परमात्मा! आप पूर्ण हो। आप सर्वज्ञ हो। आप वितराग हो। मैं अपूर्ण हूँ। मैं अज्ञानी हूँ। मैं रागी हूँ। आपकी शरण ही मुझे पूर्ण, ज्ञानी व वीतराग बनाएगी, इसी दृढ़ श्रद्धा से आपकी शरण में आया हूँ।

卐

हे प्रभो! माँ कष्टों को सह कर भी अपने पुत्र का रक्षण, पालन करती हैं। आप तो जगत् की माता हो, फिर मेरे जैसे बालक की आप उपेक्षा क्यों करते हो?

卐

हे प्रभो! मेरी आत्मा का निर्विकार स्वरूप होने पर भी ये वासनाएँ मुझे क्यों सताती हैं? यह समझ में नहीं आ रहा है। मुझे विश्वास है कि आपकी भक्ति ही मुझे वासना-मुक्त बनाएगी।

परमात्म-पूजा की उपेक्षा से तीन दोषों का प्रगटीकरण

अपूज्य की पूजा से भी पूज्य की पूजा की उपेक्षा अधिक भयंकर-हानिकर है। इस लोक में सर्वाधिक पूजा और सम्मान के पात्र परमात्मा ही हैं, उनकी पूजा की उपेक्षा महामिथ्यात्व का कारण है। परमात्म-पूजा की उपेक्षा से आत्मा में तीन दोषों का प्रगटीकरण होता है -

1. **गुण का अनादर** - जिनेश्वर की पूजा की उपेक्षा करने वाला गुण का अनादर करता हैं। जिस प्रकार गुण-बहुमान का अध्यवसाय अवंध्य पुण्यबंध का कारण है, उसी प्रकार गुण के अनादर का अध्यवसाय सानुबंध तीव्र अशुभ कर्म के बंध का हेतु है।

गुणी के अनादर, आशातना और हीलना का अध्यवसाय, मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति (70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम) के बंध का कारण है।

हिंसादी पापाचरण की अपेक्षा गुणी का अनादर करने वाला अत्यधिक क्लिष्ट कर्मप्रकृति का बंध करता है। जिनपूजा के प्रति अरुचि से गुणीजन के प्रति अनादर भाव बढ़ता है।

परमात्मा कृतकृत्य होने पर भी भव्य जीवों पर उपकार करते हैं, अतः पूज्यतम हैं। देव-देवेन्द्र आदि भी परमात्मा की पूजा करते हैं, फिर भी उनकी पूजा की उपेक्षा करना महामोह का ही कारण है।

2. **कृतघ्नता** - जिनपूजन की उपेक्षा करने वाला कृतघ्न बनता है। वह व्यक्ति परमात्मा के अनन्त उपकारों की अवगणना करता है। शास्त्र में कहा गया है कि मदिरापान, हिंसा, झूठ, चोरी आदि के पापों की प्रायश्चित्त आदि द्वारा शुद्धि हो जाती है, किन्तु कृतघ्न व्यक्ति की शुद्धि नहीं होती है अर्थात् वह प्रायश्चित्त के लिए भी अयोग्य है।

3. **अहंकार** - अहंकार एक भयंकर कोटि का दुर्गुण है। अहंकार हृदय का उन्माद है। अहंकार से आत्मा भयंकर नीच गोत्र का बंध करती है, जिससे करोड़ों भवों में भी मुक्त नहीं बनती है।

परमात्म-पूजन की उपेक्षा से अहंकार का पोषण होता है। अहं तो सर्व अनर्थों का मूल है। त्रिलोकनाथ की उपेक्षा से बढ़कर और कौन सा भयंकर पाप हो सकता है?

ये तीन दोष आत्मा की भयंकर बरबादी करने वाले हैं। अतः मुमुक्षु आत्मा को कभी परमात्म-भक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

जिन-प्रतिमा माहात्म्य

पूज्य न्यायाचार्य, न्यायविशारद महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज विरचित ''श्री प्रतिमाशतक'' के अति मननीय 11 पद्य

(1)

ऐन्द्रश्रेणिनता - प्रतापभवनं भव्यांगिनेत्रामृतं,
सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः प्रीत्या प्रमाणीकृता।
मूर्तिः स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुरन्
मोहोन्मादघनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता

इन्द्रों की श्रेणी द्वारा नमस्कृत, प्रताप के गृहरूप, भव्य प्राणियों के नेत्रों को अमृतरूप, सिद्धान्त के रहस्य का विचार करने में चतुर पुरुषों द्वारा प्रीति से प्रमाणभूत की हुई और स्फुरायमान ऐसी श्री जिनेश्वर भगवन्त की प्रतिमा सदा विजय प्राप्त करती है, कि जो प्रतिमा विविध परिणाम वाले मोह के उन्माद और प्रमादरूपी मदिरा से उन्मत्त बने कुमति-पुरुषों को देखने में नहीं आती ॥1॥

(2)

नामादित्रयमेव भावभगवत्ताद्रूप्यधीकारणं,
शास्त्रात् स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः ।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां भावं पुरस्कुर्वता -
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः॥

नामादि तीनों निक्षेप भगवान के तद्रूपपने की बुद्धि के कारण हैं तथा उनको शुद्ध हृदय वाले गीतार्थ पुरुषों ने शास्त्र से तथा अपने अनुभव से स्वीकार किया है तथा बार-बार उनका अनुभव किया है। इससे अर्हत की प्रतिमा का अनादर कर मात्र भाव अर्हत् को जो मानने वाले हैं उनकी बुद्धि दर्पण में मुख देखने वाले अन्धे पुरुषों की भाँति कुत्सित एवं दोषयुक्त है ॥2॥

(3)

स्वान्तं ध्वान्तमयं मुखं विषमयं दृग् धूमधारामयी,
तेषां यैर्न नता स्तुता न भगवन्मूर्तिर्न वा प्रेक्षिता ।
देवैश्चारणपुंगवैः सहृदयैरानन्दितैर्वन्दिता,
ये त्वेनां समुपासते कृतधियस्तेषां पवित्रं जनुः ॥

जिन्होंने भगवान की मूर्ति को नमस्कार नहीं किया, उनका हृदय अन्धकारमय है; जिन्होंने उनकी स्तुति नहीं की, उनका मुख विषमय है तथा जिन्होंने उनका दर्शन नहीं किया, उनकी दृष्टि धुएँ से व्याप्त है। देवगण, चारण, मुनि और तत्त्ववेत्ताओं द्वारा आनन्द से वन्दना की हुई इस प्रतिमा की जो उपासना करते हैं, उनकी बुद्धि कृतार्थ है और उनका जन्म पवित्र है ॥3॥

(4)

उत्फुल्लामिव मालतीं मधुकरो रेवामिवेभः प्रियां,
माकन्दद्रुममंजरीमिव पिकः सौन्दर्यभाजं मधौ ।
नन्दच्चन्दनचारुनन्दनवनीभूमिमिव द्यो पति -
स्तीर्थेशप्रतिमां न हि क्षणमपि स्वान्ताद्धि मुंचाम्यहम्॥

जैसे भ्रमर प्रफुल्लित मालती को नहीं छोड़ता, जैसे हाथी मनोहर रेवा नदी को नहीं छोड़ता, जैसे कोयल वसंत ऋतु में सुन्दर आम्रवृक्ष की डाली को नहीं छोड़ती और जैसे स्वर्गपति इन्द्र चन्दन वृक्षों से सुन्दर ऐसी नन्दनवन की भूमि को नहीं छोड़ता, वैसे ही मैं तीर्थंकर भगवन्त की प्रतिमा को अपने हृदय से पलभर भी दूर नहीं करता ॥4॥

(5)

मोहोद्दामदवानलप्रशमने पाथोदवृष्टिः शम -
स्रोतानिर्झरिणी समीहितविधौ कल्पद्रुवल्लिः सताम्।
संसारप्रबलान्धकारमथने, मार्तंडचंडद्युति -
जैनीमूर्तिरुपास्यतां शिवसुखे भव्याः पिपासास्ति चेत्॥

हे भव्य प्राणियो! जो तुम्हें मोक्षसुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो तुम श्री तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा की उपासना करो, जो प्रतिमा मोहरूपी दावानल को शान्त करने में मेघवृष्टि रूप है, जो समता रूप प्रवाह देने के लिए नदी है, जो सत्पुरुषों को वांछित देने में कल्पलता है और जो संसाररूपी उग्र अन्धकार को नाश करने में सूर्य की तीव्र प्रभारूप है ॥5॥

(6)

दर्श दर्शमवापमव्ययमुदं विद्योतमाना लसद् -
विश्वासं प्रतिमामकेन रहित! स्वां ते सदानन्द! याम्!
सा धत्ते स्वरसप्रसृत्वरगुणस्थानोचितामानमद् -
विश्वा संप्रति मामके नरहित! स्वान्ते सदानं दयाम्॥

हे सर्व दुःख रहित प्रभो! हे सदा आनन्दमय नाथ! आपकी मूर्ति को देख-देखकर मैं अपने हृदय में विश्वास प्राप्त कर अव्यय एवं अविनाशी हर्ष को प्राप्त हुआ हूँ। हे मानवहितकारी प्रभो! आपकी यह प्रतिमा अभयदान सहित उपाधि बिना वृद्धिगत गुणस्थानक के योग्य दया का पोषण करती है ॥6॥

(7)

त्वद्बिम्बे विधृते हृदि स्फुरति न प्रागेव रूपान्तरं,
त्वद्रूपे तु ततः स्मृते भुवि भवेन्नो रूपमात्रप्रथा।
तस्मात्त्वन्मदभेदबुद्ध्युदयतो नो युष्मदस्मत्पदो -
ल्लेखः किंचिदगोचरं तु लसति ज्योतिः परं चिन्मयम्॥

हे प्रभो! आपके बिम्ब को हृदय में धारण करने के बाद दूसरा कोई रूप हृदय में स्फुरायमान नहीं होता और आपके रूप का स्मरण होते ही पृथ्वी पर अन्य किसी रूप की प्रसिद्धि नहीं होती। इसके लिए ''तू वही मैं' ऐसी अभेद बुद्धि के उदय से ''युष्मद् और अस्मद्'' पद का उल्लेख भी नहीं होता और कोई अगोचर परम चैतन्यमय ज्योति अन्तर में स्फुरायमान होती है ॥7॥

(8)

किं ब्रह्मैकमयी किमुत्सवमयी श्रेयोमयी किं किमु,
ज्ञानानन्दमयी किमुन्नतिमयी किं सर्वशोभामयी।
इत्थं किं किमितिप्रकल्पनपरैस्त्वन्मूर्तिरुद्वीक्षिता,
किं सर्वातिगमेव दर्शयति सद्ध्यानप्रसादान्महः ॥

क्या यह प्रतिमा ब्रह्ममय है? उत्सवमय है? कल्याणमय है? उन्नतिमय है? सर्व शोभामय है? इस प्रकार की कल्पना करते कवियों द्वारा देखी हुई तुम्हारी प्रतिमा सद्ध्यान के प्रसाद से सबको उल्लंघन करने वाली ज्ञानरूप तेज को बताती है ॥8॥

(9)

त्वद्रूपं परिवर्ततां हृदि मम ज्योतिःस्वरूपं प्रभो!
तावद् यावदरूपमुत्तमपदं निष्पापमाविर्भवेत् ।
यत्रानन्दघने सुरासुरसुखं संपीडितं सर्वतो,
भागेऽनन्ततमेऽपि नैति घटनां कालत्रयीसंभवि।।

हे प्रभो! पाप-नाशक, उत्तम पदस्वरूप और रूपरहित ऐसा अप्रतिपाती ध्यान जब तक प्रकट नहीं हो जाता तब तक मेरे हृदय में आपका रूप अनेक प्रकार से ज्ञेयाकार रूप से परिणाम को प्राप्त हो! जो आनन्दघन में त्रिकालसम्भवी और सभी ओर से एकत्रित सुर-असुर का सुख अनन्तवें भाग का भी नहीं है ।।9।।

(10)

स्वान्तं शुष्यति दह्यते च नयनं भस्मीभवत्याननं,
दृष्ट्वा तत्प्रतिमामपीह कुधियामित्याप्तलुप्तात्मनाम्।
अस्माकं त्वनिमेषविस्मितदृशां रागादिमां पश्यतां,
सान्द्रानन्दसुधानिमज्जनसुखं व्यक्तीभवत्यन्वहम् ।।

जिनप्रतिमा के विषय में जिनकी आत्मा खंडित हुई है ऐसे दुर्बुद्धियों का हृदय इस प्रतिमा को देखकर सूख जाता है, नेत्र जल उठते हैं और मुँह भस्मीभूत हो जाता है, जबकि प्रेम से इस प्रतिमा को अनिमेष दृष्टि से देखते, हमको तो आनन्दघन अमृत में डूबने का सुख निरन्तर प्रगट होता है ।।10।।

(11)

मन्दारद्रुमचारुपुष्पनिकरैर्वृन्दारवैरर्चितां,
सद्वृंदाभिनतस्य निर्वृतिलताकन्दायमानस्य ते।
निस्यन्दात् रूपनामृतस्य जगती पान्तीममन्दामया-
वस्कन्दात् प्रतिमां जिनेन्द्र! परमानंदाय वन्दामहे।।

हे जिनेन्द्र! उत्तम पुरुषों के द्वारा नमस्कृत एवं मुक्ति रूपी लता के कन्द समान आपकी प्रतिमा, जिसको देवताओं ने मंदार वृक्ष के पुष्पों से पूजी है और जो उग्र रोग का शोषण करने वाले स्नात्रजल रूप अमृत के झरने से सारे जगत् की रक्षा करती है, ऐसी प्रतिमा को हम परम आनन्द (मोक्ष) के लिए वन्दना करते हैं ।।11।।

कुमति - लता - उन्मीलन

- यानी -

(श्री जिनबिंब - स्थापन - स्तवन)

भरतादिके उद्धारज कीधो, शत्रुंजय मोझार;
सोनातणां जेणे देरां कराव्यां, रत्नतणा बिंब थाप्यों,
हो कुमति!कां प्रतिमा उत्थापी 1 अे जिनवचने थापी॰1

वीर पछे बसे नेवुं बरसे, **संप्रति** राय सुजाण,
सवा लाख प्रासाद कराव्या, सवा क्रोड बिंब थाप्यां,
हो कुमति! ॰2

द्रौपदीए जिनप्रतिमा पूजी, सूत्रमां साख ठराणी;
छट्ठे अंगे ते वीर भाख्युं, गणधर पूरे साखी;
हो कुमति! ॰3

संवत् नवसे ताणु वरसे, **विमल मंत्रीश्वर** जेह;
आबु तणां जेणे दहेरां कराव्या, बे हजार बिंब थाप्यां,
हो कुमति! ॰4

संवत् अगिआर नवाणुं वरसे, राजा **कुमारपाल;**
पांच हजार प्रासाद कराव्या, सात हजार बिंब थाप्यां,
हो कुमति! ॰5

संवत् बार पंचाणु वरसे, **वस्तुपाल तेजपाल;**
पाँच हजार प्रासाद कराव्या,अगीयार हजार बिंब थाप्यां,
हो कुमति! ॰6

संवत् बार बोहोतेर वरसे, संघवी धन्नो जेह;
राणकपुर जेणे देरां कराव्यां, क्रोड नवाणुं द्रव्य खरच्यां;
हो कुमति ०7

संवत् तेर एकोतेर वरसे, समरोशा रंग सेठ,
उद्धार पंदरमो शत्रुंजे कीधो, अगीयार लाख द्रव्य खरच्या,
हो कुमति! ०8

संवत् पंदर सत्तासी वरसे, बादशाह ने वारे;
उद्धार सोलमो शत्रुंजे कीधो, करमशाहे जश लीधो,
हो कुमति! ०9

ए जिन प्रतिमा जिनवर सरखी, पूजे त्रिविध तुमे प्राणी;
जिन प्रतिमामां संदेह न राखो, वाचक जसनी वाणी,
हो कुमति! ०10

श्री जिन प्रतिमा - स्थापन - स्वाध्याय

जेम जिनप्रतिमा वंदन दीसे, समकित ने अलावे;
अंगोपांग प्रकट अरथ ए, मूरख मनमां नावे रे,
कुमति! कां प्रतिमा उथापी? ०1

एम तें शुभ मति कापी रे - कुमति! कां प्रतिमा उथापी?
मारग लोपे पापी रे, कुमति! कां प्रतिमा उथापी?
एह अरथ अखंड अधिकारे, जुओ उपांग उववाई;
ए समकितनो मारग मरडी, कहे दया शी भाई रे!
कुमति! ०2

समकित विण सुर दुरगति पामे, अरस विरस आहारे;
जुओ जमाली दयाए ने तरीओ, हुओ बहुल संसारी!
कुमति! ०3

चारण मुनि जिन प्रतिमा वंदे, भाखिऊं भगवई अंगे;
चैत्य साखि आलोयण भाखे, व्यवहारे मन रंगे!
कुमति! ०4

प्रतिमा-नति फल काऊस्सग्गे आवश्यक मां भाख्युं;
चैत्य अर्थ वेयावच्च मुनि ने, दसमे अंगे दाख्युं रे!
कुमति! ०5

सूरियाभ सूरि प्रतिमा पूजी, रायपसेणी मांहि;
समकित विणुं भवजलमां पड़तां, दया न साहे बांहि रे!
कुमति! ०6

द्रौपदीये जिन-प्रतिमा पूजी, छठे अंगे वाचे;
तो सुं एक दया पोकारी, आणा विण तुं माचे रे!
कुमति! ०7

एक जिन प्रतिमा वंदन द्वेषे, सूत्र घणां तुं लोपे!
नंदी मां जे आगम संख्या, आपमती कां गोपे?
कुमति! ०8

जिनपूजा फलदानादिक सम, महानिशीथे लहिये;
अंध परंपर कुमतिवासना, तो किम मनमां वहिये रे?
कुमति! ०9

सिद्धारथ राय जिन पूज्या, कल्पसूत्रमां देखो;
आणा शुद्ध दया मन धरतां, मिले सूत्रनां लेखो रे!
कुमति! ०10

थावर हिंसा जिन- पूजामां, जो तुं देखी धूजे;
तो पापी ते दूर देश थी, जे तुज आवी पूजे रे!
कुमति! ०11

पडिकमणे मुनि दान विहारे, हिंसा दोष विशेष;
लाभालाभ विचारी जोतां, प्रतिमामां स्यो द्वेष रे?
कुमति! ०12

टीका चूर्णि भाष्य उवेख्यां, ऊवेखी निर्युक्ति;
प्रतिमा कारण सूत्र उवेख्यां, दूर रही तुझ मुगति रे!
कुमति! ०13

शुद्ध परम्परा चाली आवी, प्रतिमा- वन्दन वाणी;
संमूर्च्छम जे ए मूढ न माने, तेह अदीठ कल्याण रे!
कुमति! ०14

जिन प्रतिमा जिन सरिखी जाणे, पंचांगीना जाण;
कवि जसविजय कहे ने गिरुआ, कीजे तास बखाण रे!
कुमति! ०15

श्री जिनप्रतिमा-स्थापन

(श्री शान्तिनाथ भगवान का स्तवन)

शान्तिजिनेश्वर साहेब वंदो, अनुभव रस नो कंदो रे,
मुखने मटके लोचन लटके, मोह्या सुरनर वृंदो रे,
शांति० 1

मंजर देखी ने कोयल टौके, मेघ घटा जेम मोरो रे,
तेम जिनप्रतिमा निरखी हरखुं, वली जेम चंद चकोर रे,
शांति० 2

जिन प्रतिमा जिनवर भाखी, सूत्र घणां छे साखी रे,
सुरनर मुनिवर वंदन पूजा, करता शिव अभिलाषि रे,
शांति० 3

रायपसेणी प्रतिमा पूजी, सूरियाभ समकितधारी रे,
जीवाभिगमे प्रतिमा पूजी, विजयदेव अधिकारी रे,
शांति॰ 4

जिनवर बिंब विना नवि वंदु, आणंदजी एम बोले रे,
सातमे अंगे समकित मूले, अवर नहिं तस तोले रे,
शांति॰ 5

ज्ञातासूत्रे द्रौपदी पूजा, करती शिवसुख मांगे रे,
राय सिद्धारथे प्रतिमा पूजी, कल्पसूत्र मांहे रागे रे,
शांति॰ 6

विद्याचारण मुनिवरे वंदी, प्रतिमा पांचमे अंगे रे,
जंघाचारण मुनिवरे वंदी, जिनप्रतिमा मन रंगे रे,
शांति॰ 7

आर्यसुहस्ति सूरि उपदेशे, चावो संप्रतिराय रे,
सवा क्रोडि जिनबिंब भराव्यां, धन्य धन्य एहनी माय रे,
शांति॰ 8

मोकली प्रतिमा अभयकुमारे देखी आर्द्रकुमार रे,
जातिस्मरणे समकित पामी, वरीओ शिवसुख सार रे,
शांति॰ 9

इत्यादिक बहु पाठ कह्या छे, सूत्र मांहे सुखकारी रे,
सूत्र तणो एक वर्ण उत्थापे, ते कह्यो बहुल संसारी रे,
शांति॰ 10

ते माटे जिन आणा धारी, कुमति कदाग्रह वारी रे,
भक्ति तणां फल उतराध्ययने, बोधि बीज सुखकारी रे,
शांति॰ 11

एके भवे दोय पदवी पाम्या, सोलमा श्री जिनराय रे,
मुज मन मंदिरीए पधराव्या, धवल मंगल गवराय रे,
शांति० 12

जिन उत्तम पद रूप अनुपम, कीर्ति कमलानी शाला रे,
जीवविजय कहे प्रभुजीनी भक्ति, करता मंगलमाला रे,
शांति० 13

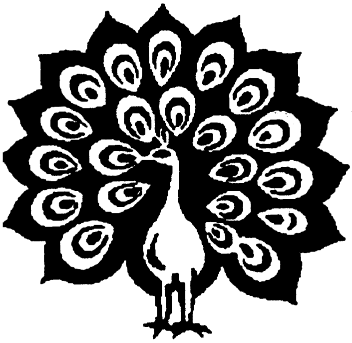

।। श्री शाश्वत-जिन-स्तुति ।।

卐

ऋषभ चन्द्रानन वन्दन कीजे, वारिषेण दुःख वारे जी,
वर्द्धमान जिनवर वली प्रणमो, शाश्वत नाम ए चारे जी ।
भरतादिक क्षेत्रे मली होवे, चार नाम चित्त धारे जी,
तेणे चारे ए शाश्वत जिनवर, नमीये नित्य सवारे जी ।।1।।

ऊर्ध्व अधो तिर्छा लोके थई, कोडि पन्नरसें जाणो जी,
ऊपर कोडी बेतालीस प्रणमो, अडवन लख मन आणो जी।
छत्रीश सहस एंशी ते ऊपरे, बिम्ब तणो परिमाणो जी,
असंख्यात व्यंतर ज्योतिषीमां, प्रणमुं ते सुविहाणो जी ।।2।।

रायपसेणि जीवाभिगमे, भगवती सूत्रे भाखी जी,
जंबूद्वीप पन्नत्ति ठाणांगे, विवरीने घणुं दाखी जी ।
वली अशाश्वती ज्ञाताकल्पमां, व्यवहार प्रमुखे आखी जी,
ते जिन प्रतिमा लोपे पापी, जिहां बहु सूत्र छे साखी जी ।।3।।

ए जिन पूजाथी आराधक, ईशान इन्द्र कहाया जी,
तेम सूरियाभ बहु सुरवर, देवी तणा समुदाया जी ।
नंदीश्वर अट्ठाई महोत्सव, करे अति हर्ष भराया जी,
जिन उत्तम कल्याणक दिवसे, पद्मविजय नमे पाया जी ।।4।।

卐 卐 卐

पाताले यानि बिम्बानि, यानि बिम्बानि भूतले
स्वर्गेऽपि यानि बिम्बानि, तानि वन्दे निरन्तरम् ।।1।।

पाताल-लोक में रहे हुए,

भूतल में रहे हुए तथा

स्वर्ग लोक में रहे हुए

- श्री जिन बिम्बों को मैं निरन्तर वन्दन करता हूँ ।

जिने भक्तिर्जिने भक्ति-र्जिने भक्तिर्दिने-दिने ।

सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु, सदा मेऽस्तु भवे-भवे ।।2।।

भगवान श्री जिनेश्वरदेवों के प्रति

भवोभव में

सदा के लिए

नित्य प्रति

मुझे भक्ति प्राप्त होवे ।

।। श्री जिन-पूजन महिमा ।।

सयं पमज्जणे पुन्नं, सहस्सं च विलेवणे ।
सयसहस्सिया माला, अनन्तं गीयवायए ।।१।।

इस पुस्तक के प्रथम प्रकरण का लेखन प्रारम्भ करते समय आगे के पृष्ठ पर **'श्री जिन-दर्शन महिमा'** सूचक पद्य प्रस्तुत किया है। उसमें श्री जिनमन्दिर में प्रभु के दर्शन करने से एक मासोपवास का व्यावहारिक फल बताया है। उसके अनुसन्धान में यह पद्य बताता है कि -

प्रभुदर्शन के फल की अपेक्षा श्री जिनबिम्ब का प्रमार्जन करने से सौ-गुना फल मिलता है। श्री जिनबिम्ब के विलेपन से हजार गुना फल मिलता है, श्री जिनबिम्ब को सुवासित पुष्पों की माला पहनाने से लाख गुना फल मिलता है और श्री जिनबिम्ब के सम्मुख नृत्यादि द्वारा भाव भक्ति करने से अनन्त-गुना फल मिलता है।

जिनवर बिम्ब ने पूजतां, होय शतगणुं पुण्य ।
सहसगणुं फल चन्दने, जे लेपे ते धन्य ।।1।।

लाख गणुं फल कुसुमनी, माला पहिरावे ।
अनन्तगणुं फल तेहथी, गीत-गान करावे ।।2।।

तीर्थंकर पदवी वरे, जिन पूजा थी जीव ।
प्रीति भक्तिपणे करी, स्थिरतापणे अतीव ।।3।।

जिन पडिमा जिन सारिखी, सिद्धान्ते भाखी ।
निक्षेपा सहु सारिखा, थापना तिम दाखी ।।4।।

त्रणकाल त्रिभुवन मांही, करे ते पूजन नेह ।
दरिशन केरूँ बीज छे, एहमां नहिं सन्देह ।।5।।

ज्ञानविमल तेहने, होय सदा सुप्रसन्न ।
एहीज जीवित फल जाणीजे, तेहीज भविजनधन्न ।।6।।

- श्री ज्ञानविमल सूरि

अखिल भारतीय श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक युवक महासंघ

स्वधर्मी संगठन शक्ति

दिल्ली में आयोजित

पंचम राष्ट्रीय अधिवेशन

(2 एवं 3 अक्टूबर, 2004)

के

अवसर पर सादर भेंट

जैन कुशल युवक मण्डल

छोटी दादाबाड़ी, आर ब्लॉक, साउथ एक्सटेंशन भाग-2

नई दिल्ली-110049